मार्क्सवाद
और
साहित्य

महेन्द्रचन्द्र राय

एक मात्र वितरक

प्रकाशक—
आराधना प्रकाशन
६४।४४ गोला दीनानाथ,
वाराणसी

प्रथम संस्करण होली, वि २०१३। (सन् १९५७)
मूल्य ४॥)

मुद्रक—
रामनिधि त्रिपाठी
मायापति प्रेस,
मध्यमेश्वर काशी।

अवतरणिका

इतने दिनों तक साहित्य-विचार या तो नन्दनतत्व (Aesthetice) की दृष्टि से किया गया है, नहीं तो रसतत्व की दृष्टि से। प्रत्येक पाठक अपने हृदय की कसौटी पर इसका विचार करते हैं। यदि कोई साहित्य-कृति पाठक के हृदय में उपयुक्त परिमाण में आनन्द जाग्रत करने में अथवा रसोद्रेक करने में समर्थ हो तो पाठक उसे यथार्थ साहित्य कह कर मानते हैं नतुवा नहीं। यही है परम्परागत साहित्य विचार की पद्धति।

यद्यपि यह सच है कि साहित्य का उद्भव विशेष-विशेष काल के समाज-जीवन से ही होता है, तथापि इतने दिनों तक साहित्य को एक स्वतंत्र अन्य-निरपेक्ष सत्ता मानकर, केवल साहित्य के मानदंड से ही उसका विचार किया गया है। समाजजीवन का जो उत्तरदायित्व है, साहित्य को इतने दिन उस उत्तरदायित्व से मुक्त माना गया है। किन्तु आधुनिक काल के आधुनिक विचारक साहित्य को सामाजिक उत्तर-दायित्व से मुक्त रखना नहीं चाहते हैं। मार्क्सीय साहित्य-विचार ही इसके लिए प्रधानतः दायी है।

मार्क्सीय दर्शन समाज-जीवन का दर्शन है। बहुत दिनों से दर्शन-शास्त्र को केवल मननात्मक ही माना गया है; व्यवहारिक जीवन के साथ दर्शन शास्त्र का कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं, इस पर विचार करना अनावश्यक माना जाता था। मानव समाज में प्रचलित भावधारा के इतिहास को तात्कालिक समाज जीवन के साथ सम्पर्कित कर देखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। मार्क्स ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि भावधारा का कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं है, भावधारा का इति-

हास मूलतः मनुष्य के सामाजिक जीवन का ही इतिहास है। इसीलिए साहित्य दर्शन आदि सभी मानस-सृष्टियाँ मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हैं। मनुष्य के जीवन से, उसकी सामाजिक परिस्थिति से, भावधारा की उत्पत्ति होती है, और वह भावधारा फिर मनुष्य के जीवन को बदलती है, उसके परिवेश को परिवर्तित करने में प्रेरणा देती है। सुतराम् समाज-विवर्तन में साहित्य-दर्शन का एक विशेष स्थान है और इसीलिए समाज के प्रति साहित्य का उत्तरदायित्व भी है। केवल भावाविष्ट मनन में अथवा रसास्वादन में ही उसकी परिसमाप्ति नहीं है।

मार्क्सीय दर्शन इसीलिए एक व्यवहारिक दर्शन है, कर्ममूलक दर्शन है। मार्क्सीय दर्शन शास्त्र का लक्ष्य केवल तत्वालोचना नहीं है, मार्क्सीय दर्शन का मूल लक्ष्य समाज को परिवर्तित करना है, एक आदर्श मानव समाज की ओर वर्तमान समाज को जितना द्रुत हो सके ले जाना है। इसीलिए मार्क्सवादी साहित्य को भी इस वैप्लविक समाज विवर्तन के काम में लगाना चाहता है और इसी को वह साहित्य का सर्व प्रधान कर्तव्य भी समझता है।

इस ग्रन्थ में, मार्क्सवादी की दृष्टि में साहित्य को कैसा होना चाहिए, वही दिखलाने की चेष्टा की गयी है। मार्क्सीय दृष्टिकोण को यथायथ रूप से पाठक के सम्मुख उपस्थापित करने की यह चेष्टा कहाँ तक सार्थक हुई है, उसका विचार पाठक के ऊपर ही छोड़ देना उचित है।

अब इस ग्रन्थ के प्रकाशन के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उचित समझता हूँ। बंगाल के उपन्यास-सम्राट बंकिमचन्द्र ने नवीन लेखकों को यह उपदेश दिया था कि लेखक अपनी रचना को कभी तुरन्त प्रकाशित न करें, बल्कि कई साल बाद उसे फिर पढ़ें और यदि उस समय भी वह पाठयोग्य मालूम हो तो उसे प्रकाशित करें। इच्छा से

न सही, अनिच्छावश ही इस पुस्तक के लिखते अब प्रायः नौ वर्ष बीत गये। प्रकाशकों के पास दौड़धूप करने की शक्ति का अभाव ही इसका कारण है। मित्र श्रीसुधाकर पांडेय जी यदि इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए आग्रह और चेष्टा न करते तो मुझे सन्देह है कि संभवतः यह पुस्तक अप्रकाशित ही रह जाती। इसलिए मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ।

दूसरी बात यह है कि मैं बंगाली हूँ, कभी भी हिन्दी भाषा का नियमतः अध्ययन नहीं किया। इस प्रान्त के निवासी होने के नाते हिन्दी का जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया उसी के आधार पर, बन्धुओं के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर हिन्दी में कई पुस्तकें लिखीं। अतः इस पुस्तक में जो कुछ भाषागत त्रुटियाँ हैं उसे पाठक क्षमा करेंगे। अन्त में में अपने प्रकाशक महोदय को भी धन्यवाद देता हूँ।

महेन्द्रचन्द्र राय

श्रीपंचमी
५ फरवरी, १९५७

हैं। इतिहास जीवन और समाज के परिवर्तनों के विछिन्न मुहूर्तों का समावेश नहीं है, वह गतिशील प्रवाह का एक अविच्छेद्य अंश है; इसीलिए उसमें से अतीत बिलकुल लुप्त नहीं हो सकता।

मानवीय सत्ता की अभिव्यक्ति मानवीय क्रियाकलापों के स्थूल और सूक्ष्म विभिन्न क्षेत्रों में प्रसारित है। सामाजिक रीति-नीति, आचार-व्यवहार, आइन-कानून, धर्म-विश्वास, दार्शनिक विचार, साहित्य, संगीत, नृत्य, स्थापत्य, मूर्त्तिकला आदि नाना क्षेत्रों में मानवीय सत्ता की क्रमाभिव्यक्ति होती जा रही है, और इन सबमें एक ही अखंड मानवसत्ता की अभिव्यक्ति होने के कारण, ये सब विभिन्न क्षेत्र परस्पर विछिन्न नहीं हैं और न परस्पर प्रभाव से मुक्त ही हैं। किन्तु सामाजिक श्रम-विभाग के फलस्वरूप ये विभिन्न क्षेत्र स्वयम्-सम्पूर्ण और स्वाधीन प्रतीत होते हैं और बहुत कुछ अन्य विभाग निरपेक्ष रह कर ही काम करते रहते हैं। समाज के अन्तर्गत और एक ही समाज-शरीर के अविच्छेद्य अंश होने पर भी, शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंग और इन्द्रियों की जिस प्रकार अनेक अंशों में अन्य निरपेक्ष स्वतंत्रता है, उसी प्रकार इन मानवीय क्रियाओं के विभिन्न क्षेत्रों में भी श्रम-विभाजन के कारण आज एक प्रकार की स्वतंत्रता है, ऐसा कहा जा सकता है। ये विभिन्न क्षेत्र इसीलिए कुछ अंशों में अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित भी होते हैं।[1]

विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों की तरह साहित्य को भी हम बहुत दिनों से एक स्वयम्-सम्पूर्ण क्षेत्र के रूप में देखते आ रहे हैं। इसीलिए साहित्य के इतिहास में यह सिद्धान्त निर्विवाद

---

१ Engels to Conrad Schmidt, London. Oct 27, 1890

रूप से स्वीकृत था कि प्रत्येक युग की साहित्यिक भावना अपने वेग से ही परवर्ती युग की भावनाओं की ओर अग्रसर होती है। साहित्य के क्रम-विवर्तन के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों के सम्पर्क की आलोचना इसीलिए साहित्य के इतिहास के दायरे के बाहर का विषय समझा जाता था। दर्शन के इतिहास में भी इसी प्रकार की स्वयम्-सम्पूर्णता की धारणा लक्षणीय है।

परन्तु, क्या साहित्य में और क्या दर्शन में, भाव और भावनाओं को समग्र सामाजिक जीवन से विछिन्न और स्वयम्-सम्पूर्ण करके देखने की जो भाववादी (idealistic) प्रवृत्ति और प्रयास है, इससे साहित्य और दर्शन के स्वरूप और समग्र जीवन के ऐतिहासिक विकास का यथार्थ ज्ञान असंभव हो जाता है। भाववादी आलोचकों के मत में किसी एक युग के भाव ही आगामी युग के भाव को विकसित करते हैं। मानव चेतना (Human consciousness) को ही जीवन-व्यापार के चालक और नियामक के रूप में देखने के कारण भाववादी मानसरूप के परिवर्तनों को ही प्राथमिक मानकर उसी की प्रतिक्रिया और परिणामस्वरूप जीवन-सत्ता (being) के परिवर्तनों की व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं।[१] किन्तु किसी विशेष युग के भाव और उसकी भावनाएँ क्यों आगामी युग के भाव और भावनाओं की ओर अग्रसर होती हैं, इसकी विज्ञान-सम्मत समीचीन व्याख्या देना भाववादियों के लिए संभव नहीं है।

मानव जीवन की और उस जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के विकास की व्याख्या करने के इस भाववादी दृष्टिकोण की भ्रांति

---

१ "In Hegel the driving force of the dialectical process was engendred by the develo,ing ideas themselves" —Joad's Guide to Philosophy, p. 467.

मार्क्स को ही पहले पहल १८४४ ई० के लगभग मालूम हुई। दार्शनिक हेगेल के आइन-दर्शन की समालोचना करते हुए मार्क्स इस सिद्धान्त पर उपनीत हुए कि "तथाकथित मानव-मानस की प्रगति के द्वारा वैध-सम्पर्कों (Legal relations) को अथवा राष्ट्र के विभिन्न रूपों (forms of state) को सम्पूर्ण स्वतंत्र और विछिन्न कर समझना संभव नहीं है, क्योंकि इनके मूल में जीवन के वस्तुगत सम्बन्ध (Material relations of life) हैं।[१] मानव संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में इस सिद्धान्त के प्रयोग के फलस्वरूप ही मार्क्स यह कहने के लिए वाध्य हुए कि भावधारा का कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं है, केवल विभिन्न समाजों का ही इतिहास है (There is no history of ideas as such, but only a history of societies)।[२] इसी दृष्टिकोण के कारण मार्क्स ने भाववादी मनीषियों के सिद्धान्त के विपरीत एक दूसरे सिद्धान्त पर पहुँच कर एक नवीन जीवन-दर्शन को प्रवर्तित किया। फलस्वरूप सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी मार्क्सीय दर्शन ने एक नवीन दृष्टिभंगी को प्रवर्तित किया।

मार्क्सीय दृष्टिकोण को समझने के लिए मार्क्सीय जीवन-दर्शन अर्थात् मार्क्सवाद के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा का रहना अत्यन्त आवश्यक है। मार्क्सवाद के बारे में विशद और सूक्ष्म आलोचना लेखक के लिए संभव नहीं और वर्तमान निबन्ध में उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। यहाँ पर मार्क्सवाद की मौलिक बुनियाद जिन सिद्धान्तों के ऊपर प्रतिष्ठित है केवल उन्हीं के बारे

---

१ Selected Works of Karl Marx Vol II, P. 355 (Lawrence & Wishart Ltd. 1945)

२ Towards the Understanding of Karl Marx, P. 118 by Sidney Hook.

में आलोचना करनी आवश्यक है, ऐतिहासिक खोज करने वालों की दृष्टि जितनी दूर जाती है उतनी दूर तक मनुष्य एक सामाजिक जीव के रूप में ही दिखाई पड़ता है। इसलिए किसी भी मनुष्य का विकास और उसकी परिणति उसके सामाजिक विकास और परिणति का ही फल है। यह कहना असंगत न होगा कि मार्क्सवाद मनुष्य के इस सामाजिक विकास की वैज्ञानिक व्याख्या है और समाज विप्लव का एक अभिनव दर्शन भी। मार्क्सीय दृष्टि में सामाजिक विकास की गति-प्रकृति क्या है और मार्क्सीय दर्शन का वैप्लविक तात्पर्य क्या है इसके समझने के लिए सबसे पहले मार्क्स द्वान्द्विक ऐतिहासिक वस्तुवाद की आलोचना आवश्यक है।

२

जीवन एक सचल सत्ता है; गतिहीनता मृत्यु का ही नामान्तर है। इस गतितत्व के ऊपर ही हेगेलीय द्वन्द्ववाद (dialectics) प्रतिष्ठित है। यद्यपि प्रसिद्ध हेगेलीय उक्ति—"जो कुछ यथार्थ है वही युक्तिसंगत है और जो कुछ युक्तिसंगत है वही यथार्थ है" बाह्यतः गति और परिवर्तन का विरोधी है, तथापि हेगेलीय युक्ति के अनुसार यही उक्ति अनिवार्य रूप से हेगेल को इसकी विपरीत उक्ति—"जो कुछ यथार्थ वही फिर अयथार्थ और विनष्ट होने को बाध्य है"—की ओर ले जाती है। (यद्यपि यह सच है कि हेगेल इस अनिवार्य परिणाम की ओर अग्रसर नहीं हुए थे।) जो कुछ यथार्थ है, अगर वह युक्तियुक्त भी है तो राष्ट्र और समाज में परिवर्तन की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। अथच जीवन क्रमागत परिवर्तन की ओर धावमान है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। अतः इतिहास ही इस तथाकथित युक्ति के विरुद्ध इस बात का प्रमाण दे रहा है कि आज जो यथार्थ (real) है, कल वह अयथार्थ हो जाता है। इसीलिए आज जो यथार्थ और युक्तिसंगत है कल उसके अन्तर्निहित अयौक्तिकता स्पष्ट हो उठती है और इसी से वह अयथार्थ भी हो जाता है। प्रत्येक वस्तु-सत्ता के अन्दर एक द्वन्द्व (Contradiction) विद्यमान है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को एक ही साथ यथार्थ और अयथार्थ मानना पड़ता है। वस्तु में अन्तर्निहित यह द्वन्द्व ही गति की मूल प्रेरणा है।[1]

---

१ Selected Works of Karl Marx Vol. I, p. 421.

गति की इस द्वान्द्विक प्रकृति के बारे में एंगेल्स कहते हैं कि "गति स्वयम् एक भावाभाव विरोध (Contradiction) है। किसी वस्तु का एक ही मुहूर्त में दो स्थानों में रहने, एक ही स्थान में रहने और न रहने के द्वारा ही साधारण यांत्रिक स्थान परिवर्तन संभव है। गति का अर्थ भावाभाव विरोध की निरवच्छिन्न उत्पत्ति और एक ही समय में उसकी निवृत्ति है।"[1] "जब साधारण स्थान परिवर्तन के अन्दर ही भावाभाव विरोध विद्यमान है तो वस्तु की गति के जो उच्चतर रूप हैं उनमें और विशेष रूप से जीवन (Organic life) और उसके विकास के बारे में तो यह विरोध और भी सत्य है। हमने ऊपर देखा है कि जीवन ठीक इसी प्रकार का है—जीवित वस्तु प्रत्येक मुहूर्त में जैसी है, उसके अलावा वह और कुछ भी होती है। सुतराम् जीवन भी एक भावाभाव विरोध है, जो वस्तु और प्रक्रियाओं में विद्यमान है और लगातार जिसकी उत्पत्ति और समाधान होता है और ज्योंही विरोध का अन्त हो जाता है, जीवन की भी समाप्ति होती है तथा मृत्यु का प्रवेश होता है। इसी तरह हमने देखा है कि मनन के क्षेत्र में भी हमलोगों को विरोध से छुटकारा नहीं है; दृष्टान्त के रूप में (कहा जा सकता है कि) मनुष्य की अन्तर्निहित असीम ज्ञान शक्ति, बौद्धिक शक्ति और वाह्य परिस्थितियों के द्वारा सीमित मनुष्य के अन्दर उस (ज्ञान शक्ति की) वास्तविक उपलब्धि—इन दोनों में जो विरोध विद्यमान है, अन्ततः हमलोगों के लिये उसका समाधान कार्यतः अन्तहीन और पुरुषानुक्रमिक रूप में अनन्त प्रगति के द्वारा ही संभव है।[2]

---

१. Anti Duhring, p. 179. २ Anti Duhring, p. 180.

एंगेल्स के इस कथन के अर्थ को बहुत अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। एक साधारण दृष्टान्त के द्वारा इसे समझने की चेष्टा करें। एक आम के बीज को लीजिए; इस बीज से जो वृक्ष होगा, उससे हजारों आम के बीज होंगे और उन बीजों से फिर अगणित बीज उत्पन्न होंगे। सुतराम् एक बीज के अन्दर अनन्त बीजों का अस्तित्व संभावना के रूप में विद्यमान है, किन्तु किसी एक बीज को इस मुहूर्त में टुकड़ा टुकड़ा करने पर भी उसके अन्दर अन्य किसी भी बीज का अस्तित्व नहीं मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतएव तर्क की दृष्टि से, हमें दो परस्पर-विरोधी सत्यों को स्वीकार करना पड़ता है:—(क) एक बीज के अन्दर अनन्त बीज विद्यमान हैं (ख) एक बीज के अन्दर दूसरा कोई बीज नहीं है। बीज के अन्तर्निहित यह जो भावाभाव विरोध अथवा द्वन्द्व है, इस 'है' और 'नहीं है' की समकालीन विद्यमानता का, विरोध का समाधान गतिशीलता के द्वारा ही सम्भव है। काल के अन्तहीन प्रवाह के द्वारा वंशानुक्रमिक रूप में एक ही बीज की अन्तर्निहित अनन्त संभावना वास्तव में रूपान्तरित होती है। हमारे ज्ञान-शक्ति के अन्दर भी बीज की तरह अनन्त ज्ञान की संभावना रहने पर भी किसी विशेष काल में हमारे लिए अनन्त ज्ञान का अधिकारी होना सम्भव नहीं है; काल की अन्तहीन धारा को पकड़ कर मानवीय ज्ञान उसकी अपरिसीम परिणति की ओर विकसित होता जायेगा।

अतः वस्तुवादी द्वन्द्ववाद का मौलिक सिद्धान्त ही यह है कि इस जगत् और जीवन में, वस्तु जगत् और मानस जगत् में, कोई भी घटना, कोई भी भाव एवं भावना चरम और शाश्वत होने का दावा नहीं कर सकती। विश्व वस्तु के (जिसमें मानस-सत्ता

को भी शामिल किया जा रहा है) अन्दर एक नित्यविरोध विद्यमान है और यही विरोध विश्ववस्तु को समाधान की खोज में प्रतिनियत गतिशील कर उसे अन्तहीन विरोध के समाधान के रास्ते से आगे की ओर ले जा रहा है। विश्वप्रकृति के इस द्वान्द्विक स्वरूप को लक्ष्य कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "जे मुहूर्ते पूर्ण तुमि, से-मुहूर्ते किछु तव नाइ"—जिस मुहूर्त तुम पूर्ण हो, उसी मुहूर्त में तुम्हारा (अपना) कुछ नहीं है।" यह द्वन्द्ववाद जीवन के सभी क्षेत्रों में सत्य है क्योंकि गति ही जीवन और जगत् का मौलिक स्वरूप है। एंगेल्स के शब्दों में, "विश्वप्रकृति, मानव समाज और मानवीय चिंतन की गति और विकास के साधारण नियमों के विज्ञान के अतिरिक्त द्वन्द्ववाद और कुछ नहीं है।"[१]

जिस प्रकार ज्ञान कभी भी परिपूर्णता में समाप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार इतिहास का भी परिपूर्णता में समाप्त होना असंभव है। निर्दोष और पूर्णतायुक्त समाज और 'राष्ट्र' केवल कल्पना में ही संभव है। "दूसरी ओर, सारी आनुक्रमिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ मानव समाज के निम्नतर विकास से उच्चतर विकास के अन्तहीन पथ पर केवल सामयिक (क्षणिक) विश्राम स्थान मात्र हैं। प्रत्येक स्थिति (Stage) आवश्यक है, इसलिए जिस समय और दशा ने किसी परिस्थिति को जन्म दिया है, उनके लिए वही परिस्थिति ठीक है। किन्तु जो नवीनतर और उच्चतर दशा उसके अन्दर धीरे-धीरे विकसित होती रहती है उसी के कारण प्रत्येक परिस्थिति अपनी वैधता और युक्तियुक्तता (Validity and justification) को खो बैठती है। इसी

---

१. Anti Duhring, p. 210.

३

इस द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण से ही सामाजिक विवर्तन की व्याख्या करने की मार्क्सीय पद्धति उद्भूत हुई है, जिसे हम 'ऐतिहासिक वस्तुवाद' कहा करते हैं। हेगेलीय दर्शन में विश्व-प्रकृति और मानवीय इतिहास के द्वन्द्ववादी विवर्तन को गौण स्थान दिया गया है, क्योंकि हेगेल के भाववादी दर्शन में भावसत्ता ही नित्य है और इस भावसत्ता के अन्दर जो विवर्तन संघटित होते हैं, बाह्यजगत् में—प्राकृतिक जगत् में और मानवीय संसार में भी—उसी का प्रतिफलन मात्र होता है। किन्तु मार्क्स एंगेल्स ने—और एंगेल्स के कथनानुसार डीट्स्-जेन (Dietzgen) नाम के एक जर्मन श्रमिक ने भी—सर्वप्रथम द्वन्द्ववाद को भाववादी विकृति से मुक्तकर वस्तुवादी द्वन्द्ववाद को प्रतिष्ठित किया। वस्तुवादी द्वन्द्ववाद (Materialist dialectics) का यह कहना है कि मनुष्य के मानस जगत् में जो द्वन्द्व दिखाई पड़ता है उसकी उत्पत्ति वास्तव बाह्यजगत् के द्वन्द्व से होती है, मानस द्वन्द्व वास्तव जगत् की द्वान्द्विक गति का प्रतिफलन मात्र है। सुतराम् मानव समाज की मानस सृष्टियों का—उसके धर्म, साहित्य, कला, विधि-विधान, एक शब्द में मानव संस्कृति का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए मानव समाज की विकास-धारा की सम्यक् उपलब्धि की आवश्यकता है। मार्क्स ने ऐतिहासिक वस्तुवाद (Historical materi alism) के द्वारा मानव समाज के विकास को समझाने की

चेष्टा की है। यह मतवाद, एंगेल्स के शब्दों में, "समाज के अर्थनीतिक विकास के अन्दर, उत्पादन और विनिमय पद्धति के परिवर्तन के अन्दर और उसके फलस्वरूप समाज के विभिन्न श्रेणियों के विभाजन के अन्दर और इन श्रेणियों के पारस्परिक संघर्ष के अन्दर सारी प्रधान-प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं के अन्तिम (मूल) कारण और प्रचंड प्रभाव की खोज करता है।"[1]

मार्क्स ने अपनी पुस्तक (Critique of Political Economy) की भूमिका में ऐतिहासिक वस्तुवाद का जो सुन्दर विवरण दिया है यहाँ उसे उद्धृत कर रहा हूं। "लोग सामाजिक उत्पादन के जो काम करते हैं, उससे वे ऐसे कुछ निश्चित सम्बन्धों को स्थापित करते हैं जो अनिवार्य होते हैं और जिनका अस्तित्व उनकी इच्छा पर नहीं होता; ये सब उत्पादन-सम्बन्ध भौतिक उत्पादन शक्ति के विकास के एक-एक निश्चित स्तर के अनुरूप होते हैं। इन सब उत्पादन संबंधों की सामूहिक समग्रता से ही समाज का अर्थनीतिक ढाँचा बनता है—इस यथार्थ बुनियाद के ऊपर ही वैध (legal) और राजनीतिक (विधि-विधान आदियों का) महल (superstruoture) बन जाता है और सामाजिक चेतना के विशिष्ट रूप भी इसी के अनुगत होते हैं। साधारणतः भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन-क्रियाएँ निर्धारित होती हैं, मनुष्य की चेतना उसकी सत्ता को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उसके विपरीत उसकी सामाजिक सत्ता के द्वारा ही उसकी चेतना निर्दिष्ट होती है। समाज की भौतिक उत्पादन शक्तियाँ अपने विकास के एक विशेष स्तर में तत्कालीन

---

१ Selected Works of Karl Marx Vol I, p. 402.

उत्पादन-सम्बन्धों के साथ, अथवा कानूनी भाषा में कहा जाय तो कह सकते हैं कि ये सब उत्पादन शक्तियाँ जिन सम्पत्ति-सम्बन्धों (Property relations) में पहले काम करती आयी हैं, उनके साथ संघर्ष कर बैठती हैं। उत्पादन शक्तियों के विकास के साधन (forms) न रह कर ये सम्बन्ध उनके बंधन में परिणत हो जाते हैं। तब समाजविप्लव का युग शुरू होता है। अर्थनीतिक बुनियाद में परिवर्तन के साथ ही साथ (उसके ऊपर बना हुआ) समग्र प्रकांड ढाँचा (या महल) थोड़ी बहुत शीघ्रता से रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार रूपान्तर के बारे में विचार करते समय, उत्पादन की अर्थनीतिक दशा का भौतिक रूपान्तर (जो प्राकृतिक विज्ञान की तरह निश्चयता के साथ निर्धारित हो सकता है) और वैध, राजनीतिक, धार्मिक, कलासम्बन्धी अथवा दार्शनिक रूप—संक्षेप मे वे सब भावरूप (मानस रूप—ideological forms) जिनकी सहायता से लोग इस संघर्ष के बारे में सचेतन होकर इसके विरुद्ध संग्राम करते हैं, इन दोनों में हमेशा पार्थक्य रखना चाहिए। कोई व्यक्ति अपने बारे में जैसा ख्याल करता है उसके द्वारा जिस प्रकार हम उसके बारे में मतामत नहीं बनाते, ठीक उसी तरह इस प्रकार के रूपान्तर-युग के बारे में भी उस युग की आत्म-चेतना के द्वारा हम उसका विचार नहीं कर सकते, वरन दूसरी ओर, भौतिक जीवन के विरोधों के द्वारा, उत्पादन की सामाजिक शक्ति और उत्पादन सम्बन्धों में जो विरोध वर्तमान हैं उनके द्वारा इस चेतना की व्याख्या करनी होगी। जिन सब उत्पादन शक्तियों के विकास का अवकाश समाज व्यवस्था में विद्यमान हैं, उन उत्पादन शक्तियों के विकसित न होने तक कोई समाज व्यवस्था कभी भी नष्ट नहीं होती, और पुरानी समाजव्यवस्था

के गर्भ में उच्चतर उत्पादन-सम्बन्धों के अस्तित्व के लिए भौतिक स्थिति परिपक्व न होने तक वे सम्बन्ध भी कभी आविर्भूत नहीं होते। इसीलिए मानव जाति केवल उन्ही सब कामों को अपने हाथ लेती है, जिन्हें वह पूरा कर सकती है; इस विषय पर और भी गंभीरता से विचार करने पर हम हमेशा देख पायेंगे कि किसी समस्या का उद्भव तभी होता है जब उसके समाधान के लिए जिन भौतिक दशाओं की जरूरत है वह वर्तमान रहती है, अथवा कम से कम वह दशाएँ बनने लगती हैं। स्थूलरूप से उत्पादन की एशियाई, प्राचीन, सामन्ती और अधुनिक वुर्जोआ पद्धतियों को हम समाज के अर्थनीतिक गठन की प्रगति के भिन्न-भिन्न युग कह कर अभिहित कर सकते हैं। उत्पादन का वुर्जोआ सम्बन्ध, उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया का अन्तिम विरोधी रूप है—व्यक्तिगत विरोध के रूप में विरोधी नहीं है, व्यक्तिजीवन की सामाजिक परिस्थिति से इस विरोध की उत्पत्ति है; उसके साथ समाज के गर्भ में विकासमान उत्पादन शक्तियाँ ही उस विरोध के निराकरण की भौतिक दशा (Material condition) को उत्पन्न करती हैं। अतः यह सामाजिक संगठन मानव समाज के प्रागैतिहासिक स्तर का अन्तिम अध्याय है।"[1] मार्क्सीय दृष्टि में इसीलिए वर्तमान काल में मानव समाज एक कल्पान्तसीमा पर पहुँचा है और मानव-इतिहास के सम्पूर्ण नवीन विकास के द्वार पर उपस्थित है।

---

१ Selected Works of Karl Marx Vol I, p. 356-57.

४

एंगेल्स कहते हैं कि "समग्र दर्शन शास्त्र की, विशेषकर आधुनिक दर्शन शास्त्र की मौलिक समस्या मनन के साथ सत्ता के सम्पर्क की (relation of thinking and being) है।" उनकी राय में, मनन के साथ सत्ता के, आत्मा (Spirit) के साथ प्रकृति के सम्पर्क का प्रश्न ही सारे दर्शन शास्त्र का सबसे बड़ा प्रश्न है।"[1] भाववादी दार्शनिकों (Idealist) की राय में इस विश्व-सत्ता के भौतिक और मानसिक किसी भी बात का स्वाधीन स्वनिष्ठ (independent) अस्तित्व संभव नहीं है। भाववादी सभी दार्शनिकों की राय बिलकुल एक प्रकार की नहीं है, यह कहना अवश्य बाहुल्य,मात्र है किन्तु साधारण रूप में ये सभी किसी न किसी रूप में इस विश्वसत्ता को चैतन्यसापेक्ष बतलाते हैं। इसीलिए चैतन्य को ही आदिम और मौलिक मानकर उसी से किसी न किसी प्रकार से विश्ववस्तु की उत्पत्ति की व्याख्या करनी पड़ी है। हेगेल की राय में भी इसीलिए स्वनिष्ट भाव (Absolute Idea) ही मौलिक और आदिम है। इसी से चैतन्य के रूपान्तर से ही विश्ववस्तु का रूपान्तर संभव है।

वस्तुवादी दार्शनिकों की राय में विश्वप्रकृति अथवा विश्व-वस्तु ही स्वनिष्ठ और आदिम सत्ता है। इस विश्ववस्तु के द्वान्द्विक विवर्तन के द्वारा ही ऐतिहासिक विकास के विशेष स्तर में

---

१ Ludwig Feuerbach II.

चैतन्य का उद्भव हुआ है। इसी दृष्टि से मार्क्स एक वस्तुवादी (Materialist) हैं। इसी लिए विश्वसृष्टि के पहले भी 'स्वनिष्ठ भाव' (Absolute) के अस्तित्व को मार्क्स किसी तरह मान नहीं सकते। इसीलिए "जो भाव किसी व्यक्तिमानस का भाव नहीं है वह बिलकुल कल्पना मात्र है। केवल व्यक्ति विशेष के मन में ही भाव का अस्तित्व संभव है"[1] और व्यक्ति मानस के ये भाव बाह्य वस्तुजगत के ही प्रतिफलन मात्र हैं। मार्क्स की राय में विषयी अथवा ज्ञाता-निरपेक्ष, पर इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु ही विश्वसृष्टि का आदिम और मौलिक उपादान है। विशेष-विशेष दशा में इस वस्तुसत्ता को अचेतन जड़ कहने पर भी मूलतः प्रकृतिगत रूप में इसे जड़ अचेतन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विश्ववस्तु की द्वान्द्विक अभिव्यक्ति के विशेष स्तर में यही तथाकथित जड़ वस्तुसत्ता सजीव और चेतन सत्ता के रूप में विकसित हुआ है। अतः मार्क्स को जड़-वादी कहना बिलकुल गलत है। वह इन्द्रियग्राह्य वस्तुसत्ता को ही सृष्टि के आदि कारण के रूप में मानते हैं और यह भी मानते हैं कि वस्तुसत्ता का प्राथमिक विकासरूप निर्जीव और अचेतन जड़ है। किन्तु वस्तु की अन्तर्निहित द्वान्द्विक गति की प्रेरणा से जड़ वस्तुजगत का ही कुछ अंश विवर्तित होकर चेतन प्राणि-जगत् में परिणत हुआ है। इसका अकाट्य प्रमाण अभी तक संभव न होने पर भी आधुनिक विज्ञान के नाना प्रकार के तथ्यों से इसी सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त होता है[2]। अतः मार्क्सीय

---

१ Joad's Guide to Philosophy p 467.

२ इस सिलसिले में Marcel Prennant की पुस्तक Biology and Marxism (International Publishers, New York 1943) देखिए।

दर्शन का यह सिद्धान्त है कि वस्तुसत्ता से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है और चेतन जगत् की उत्पत्ति के आपाततः अन्तिम अध्याय में मनुष्य का आविर्भाव हुआ है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर मार्क्स कहते हैं कि मानव-इतिहास का अन्तिम नियामक और निर्णायक मनुष्य की चेतना (मनन) नहीं है, उसकी वास्तव भौतिक सत्ता, उसकी अर्थनीतिक परिस्थिति ही असल निर्णायक है।

मानव चेतना की उत्पत्ति के साथ मनुष्य ने भौतिक सृष्टि के अतिरिक्त एक आश्चर्यजनक मानस जगत् की सृष्टि की है; वह जगत् उसकी भावना कल्पना, उसके साहित्य-संगीत-दर्शन-नीति-धर्म का जगत् है और इस जगत् के अस्तित्व को महिमान्वित करते हुए वह इस विश्वास पर आ पहुँचा है कि भाव-जगत् का अस्तित्व आदिम और शाश्वत है। यहाँ तक कहा गया है कि भाव जगत् ही एकमात्र सत्य है, वस्तु जगत् मायामात्र है। मार्क्स ने इस मानस चेतना के विपुल प्रभाव को कभी अस्वीकार नहीं किया परन्तु उसे प्रथमतः मनुष्य की सामाजिक सत्ता से उद्भूत बताया है। जड़ पाषाणपिंड से मनुष्य के मन बुद्धि की तरह अजड़ वस्तु का आविर्भाव अनेकों को अत्यन्त अस्वाभाविक और अबोध्य मालूम हो सकता है, किन्तु चेतना की तरह अजड़-वस्तु से इस जड़ जगत् जैसी ठोस वस्तु की उत्पत्ति हुई है, ऐसा कहना भी क्या उतना ही अस्वाभाविक नहीं मालूम होता? अस्तु, इस दार्शनिक आलोचना में अधिक अग्रसर होने की आवश्यकता नहीं है। केवल हमें इतना ही विशेष रूपसे स्मरण रखना है कि मार्क्सीय सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की मानस चेतना का जो कुछ रूप हैं, उसकी सांस्कृतिक जो कुछ सृष्टियाँ हैं वह सभी समाज की अर्थनीतिक ढाँचे के ऊपर आश्रित हैं।

इससे अनेकों के मन में इस भ्रान्त धारणा की सृष्टि होना असंभव नहीं है कि मनुष्य अर्थनीतिक परिस्थितियों का दास मात्र है, उसकी आत्मिक स्वतंत्रता कुछ भी नहीं है। यह धारणा बिलकुल गलत है, मार्क्स की उक्तियों से ही वह स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स ने कहा है कि "मनुष्य अपना परिवेश और शिक्षा की उपज है, विभिन्न परिवेश और शिक्षा के कारण विभिन्न प्रकार के मनुष्य उत्पन्न होते हैं—यह वस्तुवादी मतवाद यह भूल जाता है कि परिवेश मनुष्य के द्वारा ही बदला गया है और शिक्षक को स्वयम् शिक्षित होना पड़ता है[1]। 'अर्थनीतिक दशा' की व्याख्या करते समय एंगेल्स ने उत्पादन-व्यवस्था, यातायात व्यवस्था (transport), विनिमय व्यवस्था, भौगोलिक आधार और अर्थनीतिक विकास के प्राथमिक स्तर का जो कुछ अवशेष इन सभी को इस 'अर्थनीतिक दशा' का अन्तर्भुक्त किया है। इसके पश्चात् एंगेल्स ने और भी कहा है कि "हम सोचते हैं कि अर्थनीतिक दशाएँ ही अन्त में (ultimately) ऐतिहासिक विकास को निरूपित करती हैं, किन्तु 'कौम' स्वयम् एक अर्थनीतिक उपादान है[2]। अतः कौमी विशेषताओं का प्रभाव भी यहाँ स्वीकृत हुई हैं। अर्थनीतिक दशा को समाज के ऐतिहासिक विकास का मूल नियामक के रूप में मानने के साथ एंगेल्स ने जो टीका की है वह विशेष विचारणीय है।

एंगेल्स कहते हैं कि "राजनैतिक, व्यवहार शास्त्र-सम्बन्धी (juridical), धार्मिक, साहित्यिक, कलासम्बन्धी और अन्य प्रकार के विकास अर्थनीतिक विकास के ऊपर आधारित है। किन्तु ये सभी परस्पर के ऊपर और अर्थनीतिक बुनियाद के

1. Theses on Feuerbach—Marx.
2. Selected Works of Kanl Marx Vol I P 391–93

ऊपर भी प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं और एकमात्र अर्थनीतिक स्थिति ही सक्रिय रूप में और कारण रूप में काम करती है ऐसी बात नहीं है। अर्थनीतिक प्रयोजन ही परिणाम में अपने को घोषित करने पर भी इस अर्थनीतिक प्रयोजन के आधार पर पारस्परिक क्रियाप्रतिक्रिया होती है।...अर्थनीतिक स्थिति स्वतः प्रभाव दिखार करती है ऐसा नहीं, लोग अपने इतिहास को बनाते हैं परन्तु निर्दिष्ट परिवेश के अन्दर होता है, जो उस इतिहास को निरूपित करता है और तात्कालिक वास्तव सम्बन्धों के आधार पर करता है; लेकिन इन सम्बन्धों में अन्य राजनीतिक और भावात्मक (ideological) सम्बन्धों के द्वारा वह अर्थनीतिक सम्बन्ध कितना भी प्रभावित क्यों न हो अर्थनीतिक सम्बन्ध ही परिणाम में निर्णायक होते हैं और उन सम्बन्धों के अन्दर ये अर्थनीतिक सम्बन्ध एक लाल ग्रन्थनसूत्र की तरह विद्यमान रहते हैं और इसी के जरिये (इतिहास को) समझा जाता है।"[१] एक दूसरे पत्र में इस विषय में एंगेल्स ने कहा है कि "हमलोग ही अपने इतिहास का निर्माण करते हैं, परन्तु वह अत्यन्त सुनिर्दिष्ट पूर्व स्वीकृतियों (Presuppositions) और दशा के अधीन रहकर। इन सब दशाओं में अर्थनीतिक दशाएँ ही परिणाम में निर्णायक होती हैं। किन्तु निर्णायक न होने पर भी राजनीतिक और अन्य परिस्थितियाँ भी, यहाँ तक कि मनुष्य के मन में जो परम्पराएँ (tradition) रहती हैं वे भी इसमें हिस्सा लेते हैं। केवल अर्थनीतिक कारण के द्वारा किसी समाजसत्ता की व्याख्या करने की कोशिश को एंगेल्स ने हास्यास्पद बतलाने में भी संकोच नहीं किया।"[२]

---

१ Selected Works of Karl Marx Vol I p 391–93
२ Selected Works of Karl Marx Vot I 381–83

८

"लोग अपने इतिहास का निर्माण आप ही करते हैं" मार्क्स और एंगेल्स दोनों इस बात को मानते हैं। किन्तु इस उक्ति का स्पष्ट अर्थ क्या है, अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

द्वान्द्विक वस्तुवाद की आलोचना के सिलसिले में यह कहा गया है कि प्राकृतिक और मानविक सभी घटनाएँ गति विज्ञान के द्वान्द्विक नियम के अधीन हैं। इस दृष्टि से प्राकृतिक जगत् और मानविक जगत् के विकास एक ही प्रकार के होते हुए भी दोनों के बीच एक मौलिक प्रभेद भी विद्यमान है। प्राकृतिक घटनावली अन्ध अचेतन शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है; उनमें कीसी भी सचेतन और सज्ञान शक्ति की अभीप्सित लक्ष्याभिमुखी क्रिया का प्रमाण नहीं है। किन्तु समाज का इतिहास किसी अन्ध अचेतन शक्ति की सृष्टि नहीं है; समाज सचेतन मनुष्यों की सृष्टि है; यहाँ मनुष्य सचेतन रूप में किसी उद्देश्य अथवा आवेग के द्वारा प्रेरित होकर निश्चित लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य से काम करते हैं। पर विश्वप्रकृति के विकास और मानव समाज के विकास के इतिहास में यह मौलिक भेद रहते हुए भी इस बात को इनकार नहीं किया जा सकता कि मानव-इतिहास के विकास और गति के मूल में भी कुछ साधारण नियम काम कर रहे हैं। क्योंकि यहाँ पर भी अनेकों मनुष्यों की सचेतन इच्छा और अभिप्रायों के अगणित घात प्रतिघात संघात और क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप किसी भी एक व्यक्ति की इच्छा

और अभिप्राय पूरे नहीं हो पाते। प्रत्येक व्यक्ति का कर्म का लक्ष्य रहता है परन्तु बहुत से लोगों की इच्छा और अभिप्रायों का जो फल होता है वह किसी के भी अभीप्सित लक्ष्य से सम्पूर्ण भिन्न होता है। इसीलिए मानव समाज का विकास भी वाह्यत: प्राकृतिक विकास की ही तरह दैव नियंत्रित जैसा प्रतीत होता है।[1] इसीलिए मनुष्य स्वभावतः सामाजिक तथा अर्थनीतिक विकास के क्षेत्र में भी अपने को दैव के अधीन और अदृष्ट शक्ति से नियंत्रित समझता है।

एंगेल्स कहते हैं कि "लोग स्वयं ही अपने इतिहास को बनते हैं। लेकिन अभीतक वे सामूहिक इच्छा के द्वारा अथवा सामूहिक योजना के अनुसार अथवा कोई निर्दिष्ट समाज के अन्दर रहकर ऐसा नहीं करते।"[2] बहुत से व्यक्तियों के मन में नाना विचित्र इच्छा और प्रवृत्तियों का उदय होता है; यह सब जीवन के नाना विचित्र परिवेशों का फल है। इन व्यक्तिगत इच्छाओं का पारस्परिक घात प्रतिघात का सामूहिक परिणाम ही इतिहास में घटनाओं के रूप में प्रकटित होता है और इसी तरह इतिहास की सृष्टि होती रहती है। सामूहिक रूप से देखा जाय तो इस ऐतिहासिक घटना को "ऐसी एक शक्ति का फल समझा जा सकता है जो अचेतन रूप में और इच्छा निरपेक्ष (without volition) होकर काम कर रही है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जो चाहता है वह अन्य प्रत्येक के द्वारा बाधा प्राप्त होता है और परिणाम ऐसा कुछ हो जाता है जो कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता था; इसीलिए अतीत इतिहास प्राकृतिक प्रक्रिया की तरह ही चला आया है और मूलतः एक

1. Selected Works of Karl Marx Vol I p 457
2. Do p 391-93.

ही गति-विज्ञान के अधीन भी है। प्रत्येक व्यक्ति की कामना उसके भौतिक सत्ता (physical constitution) के द्वारा और उसके बाहरी परिवेश के (जो मूलतः अर्थनीतिक परिवेश है, द्वारा नियन्त्रित होती है) (यह परिवेश व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत परिवेश भी हो सकता है, अथवा साधारण रूप में सामाजिक परिवेश भी हो सकता है); किन्तु इन व्यक्तिगत इच्छाओं का जो अभीष्ट है वह प्राप्त नहीं होता है, इस लिए और इन सारी इच्छाओं का एक सामूहिक औसत परिणाम (a collective mean) एक सम्मिलित फल (common-resultant) होता है इसलिए अवश्य ही ऐसा सिद्धान्त नहीं किया जा सकता कि इनका मूल्य = O है: वरन् इसके विपरीत, सम्मिलित फल में प्रत्येक का हिस्सा है और उतने परिमाण में प्रत्येक उसमें शरीक है।"[1]

यह जो बहुत सी इच्छाओं के पारस्परिक संघात से इतिहास बाह्यतः सम्पूर्ण व्यक्तिनिरपेक्ष और स्वतन्त्र परिणाम पर पहुँचता है. इससे एंगेल्स कभी भी इस सिद्धान्त पर नहीं पहुँचते हैं कि किसी रहस्यमय बाहरी शक्ति की (चाहे वह ईश्वर हो अथवा और कुछ) अपनी इच्छा से ही मानव इतिहास की सृष्टि हो रही है। जहाँ पर समाज में बहुत-सी इच्छाओं का संघात होता है, वहीं पर समाज प्रयोजन के द्वारा नियंत्रित होता है और जो बाहर से आकस्मिक प्रतीत हो सकता है उसके द्वारा उस प्रयोजन का परिपूरण होता है, परन्तु सारी आकस्मिक घटनाओं के अन्दर से भी वह प्रयोजन ही अपने को प्रतिष्ठित करता है और मूलतः यह प्रयोजन अर्थनीतिक प्रयोजन है।

---

१. Selected Works of Karl Marks Vol I p 381-83.

समाज में, विशेष विशेष युग में युगान्तरकारी व्यक्ति विशेष के आविर्भाव को एंगेल्स अवश्य ही विशुद्ध आकस्मिकता मानते हैं किन्तु बहुत से लोग जिस प्रकार इतिहास को विशेष विशेष व्यक्ति प्रेरणा का फल समझते हैं, एंगेल्स वैसा नहीं समझते विशेष-विशेष काल के प्रयोजन ही अपने प्रतिनिधि के रूप में विशेष विशेष व्यक्ति को सम्भव करता है।[1]

ऐतिहासिक घटना प्रवाह के अर्थात् सामाजिक विकास-विवर्तन के मूल में मनुष्यों के अर्थनीतिक दशा को ही सर्व प्रधान मानने के कारण अनेकों के मन में यह भ्रमपूर्ण धारणा हुई है कि मनुष्य के सामाजिक विकास में उसके मानस भाव और भावनाओं का कोई भी प्रभाव नहीं है। इसीलिए एंगेल्स ने कहा है कि "तरुण लेखक अर्थनीतिक पहलू पर जो अनुचित जोर देते हैं उसके लिए मार्क्स और मैं ही आंशिक रूप में जिम्मेवार हूँ।"[2] मनुष्य की भावसत्ता को, उसकी मानस सृष्टियों को—आइन, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला, धर्म इत्यादि को—मूलतः और प्रथमतः उसकी भौतिक परिस्थिति की और, और भी स्पष्ट रूप से कहा जाय तो, समाज की आर्थिक दशा की ही प्रतिच्छवि मानने पर भी, इन मानस सृष्टियों के आविर्भाव के पश्चात् समाज की अर्थनीतिक दशा के ऊपर ये भी प्रभूत प्रभाव डालती हैं, एंगेल्स ने इस बात को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

समाज की असली बुनियाद के अर्थनीतिक होने के कारण और वास्तव सत्ता के ऊपर ही मानव चेतना की विशेषता का

---

१. Selected Works of Karl Marx Vol I p 391–93.
२. Selected works of Karl Marx Vol I p 381–83

निर्भर होता है। इसलिए (और भाववादियों के द्वारा प्रचारित 'मानस चैतन्य से ही वास्तव सत्ता का अभिर्भाव होता है' इस मत का विरोध करने के लिए ही) ऐतिहासिक और सामाजिक विवर्तन में अर्थनीतिक दशा के ऊपर बहुत जोर दिया गया था। परन्तु अर्थनीतिक दशा और मानसचेतना परस्पर सापेक्ष हैं, इस बात को भूलने से संस्कृति के तात्पर्य के बारे में भी भ्रम होने की सम्भावना है। एंगेल्स ने मनुष्य की भावसत्ता के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ की हैं यहाँ पर उनके बारे में गंभीरता से विचार करना आवश्यक है।

६

पहले बताया गया है कि श्रमविभाजन के कारण मानवीय कर्मों के भिन्न-भिन्न क्षेत्र—शासन यंत्र (State) अथवा राष्ट्र, आइन, दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य आदि—बहुत कुछ स्वयं-सम्पूर्ण रूप में, अपनी-अपनी सीमा के अन्दर, अपने विशेष नियमों से नियन्त्रित होकर चलते हैं। इसका फल यह होता है कि इन क्षेत्रों में अर्थनीतिक दशा का पूरा-पूरा प्रतिफलन सम्भव नहीं होता, उसमें बाधाएँ पड़ती हैं। दृष्टान्त के रूप में एंगेल्स ने कानून के क्षेत्र के बारे में कहा है कि समाज के विशेष-विशेष काल के अर्थनीतिक सम्बन्धों को यथार्थ रूप में आईन में प्रतिबिम्बित नहीं किया जा सकता क्योंकि आईन को अपने क्षेत्र में पूर्वापर संगति की रक्षा करते हुए आगे की ओर बढ़ना पड़ता है।[1] मनुष्य की मानसिकता के अन्य सभी क्षेत्रों के लिए भी यह कथन सही है। "धर्म, दर्शन आदि भावराज्य के उन क्षेत्रों (realms of ideology) के बारे में, जो और भी ऊँचे आसमान में उड़ने वाले हैं" एंगेल्स कहते हैं कि "इनके अन्दर ऐसे प्रागैतिहासिक धारणाएँ संचित हैं जिन्हें आज हमलोग बिलकुल निरर्थक (bunk) कहेंगे; ये धारणाएँ पहले से ही थीं और ऐतिहासिक युग में उन्हें ले लिया गया है। यह सब नाना प्रकार की झूठी प्रकृति सम्बन्धी धारणाओं, मनुष्य की अपनी सत्ता सम्बन्धी, भूत प्रेत सम्बन्धी और ऐन्द्रजालिक शक्ति

---

1. Selected of K. Marx Vol I p 385

संबंधी धारणा आदियों की अर्थनीतिक बुनियाद अधिकांश क्षेत्रों में ही नेति वाचक है; परन्तु प्रागैतिहासिक युग के अत्यन्त निम्न-स्तर पर अर्थनीतिक विकास प्रकृति सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं के द्वारा केवल परिपूरित और नियंत्रित ही नहीं हुआ बल्कि ये मिथ्या धारणाएँ अर्थनीतिक विकास के कारण भी हुई हैं। यद्यपि प्रकृति संबंधी ज्ञान की अग्रगति की प्रधान प्रेरक शक्ति अर्थनीतिक प्रयोजन ही थी और, और भी अधिक होती जा रही है, तथापि इन आदिम युग की निरर्थक धारणाओं के अर्थनीतिक कारण निकालने की चेष्टा अवश्य ही पंडिताउ आडम्बर समझा जायगा। विज्ञान का इतिहास इन अर्थहीन धारणाओं के क्रमापसारण का अथवा इन धारणाओं के बदले में, इनके स्थान पर नये और अपेक्षाकृत कम निरर्थक धारणाओं को ग्रहण करने का इतिहास है। जो लोग यह सब लेकर काम करते हैं, श्रम विभाग के कारण वे विशेष क्षेत्र में रहकर काम करते हैं और उन्हें ऐसा मालूम होता है कि वे अन्य निरपेक्ष होकर स्वाधीन क्षेत्र में काम कर रहे हैं। श्रम के सामाजिक विभाजन के अन्तर्गत रहकर वे जिस हद तक अन्य निरपेक्ष स्वाधीन दल बनाते हैं उसी हद तक उनकी सृष्टि फिर अपनी गलतियों के साथ समाज के समूचे विकास पर, यहाँतक कि उसके अर्थनीतिक विकास परभी प्रभाव डालती है। लेकिन इसके बावजूद ये लोग अर्थनीतिक विकास के प्रबल प्रभाव के अधीन रहते हैं।[1]

इसीलिए दर्शन शास्त्र की चर्चा करते हुए एंगेल्स ने स्वीकार किया है कि इस क्षेत्र में "अर्थनीति बिलकुल नयी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती, परन्तु इसका निर्णय करती है कि मनन के जो

---

1. Selected Works of Karl Marx Vol I P 386-87

उपादान मौजूद हैं वे किस तरह बदलेंगे और, और भी विकसित होंगे और वह भी अधिकांश क्षेत्रों में परोक्षरूप से, क्योंकि दर्शन के ऊपर (अर्थनीति के) राजनीतिक, वैध (legal) और नैतिक प्रतिबिम्ब ही सबसे ज्यादा प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं।"

सांस्कृतिक अन्यान्य क्षेत्रों में भी अर्थनीतिक दशा का प्रभाव बिलकुल नया कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता, बहुत से लोग अर्थ-नीतिकदशा के मौलिक प्रभाव को दिखलाने के लिए इस बात को भूल जाते हैं और विशेष विशेष समय के अर्थनीतिक दशा को उस समय के साहित्यकला धर्म में प्रतिफलित देखना चाहते हैं, परन्तु ऐसी आशा करना अवास्तव है एंगेल्स ने स्वयं ऐसा कहा है। क्योंकि सांस्कृतिक अथवा भावात्मक किसी भी क्षेत्र में परम्परा को, परम्परागत भावनाओं को बिलकुल त्यागकर केवल वर्तमान समाज की अर्थनीतिक दशा को प्रतिफलित करना संभव नहीं है। किन्तु सांस्कृतिक परम्परा वर्जित न होने पर भी वह बिलकुल अपरिवर्तित नहीं रह सकती, बदली हुई अर्थनीतिक दशा में श्रेणी-सम्बन्धों में परिवर्तन होते है और उसीलिए परम्परागत भाव सम्पदों में भी रूपान्तर होता है।[1]

सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन परम्परागत रूढ़ियों के कारण रुकने पर भी किसी भी संस्कृति का कोई भी विभाग अपरिवर्तित नहीं रह सकता। इसीलिए एंगेल्स कहते हैं कि "रुढ़ि (tradition) एक प्रकांड, प्रतिबाधक शक्ति है, इतिहास की vis inertiae (स्थिति प्रवण शक्ति) है, लेकिन केवल निष्क्रिय होने के कारण ही यह (बाधा) टूट जाने के लिए बाध्य है………अगर हमारी

1. Selected Works of Karl Marx Vol I p 468.

व्यवहार शास्त्रीय (juridical), दार्शनिक, और धार्मिक धारणाएँ किसी निर्दिष्ट समाज के प्रचलित अर्थनीतिक संबंधों का ही थोड़ा बहुत दूर-सम्बन्धित शाखा-प्रशाखाएँ हों तो अन्त में ऐसी धारणाओं के लिए उन सम्बन्धों के सम्पूर्ण परिवर्तन के प्रभाव को रोकना संभव नहीं है।"[1]

अब तक हमने जो आलोचना की है, आशा है उससे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मानव समाज की अर्थनीतिक दशा से ही मानव मानस में सांस्कृतिक सृष्टियों की—धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य, नीतिरीति, आइन कानून की उत्पत्ति होती है और अर्थनीतिक संबंधों में परिवर्तन के कारण समाज के श्रेणी सम्पर्क में भी परिवर्तन होने से समाजमानस का भी अर्थात् विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों का भी रूपान्तर होता है। परन्तु यह रूपान्तर मनुष्य के द्वारा ही होता है। अर्थनीतिक परिवर्तन से मनुष्य की धारणाओं में परिवर्तन होता है यह जैसा सत्य है उसी प्रकार यह भी सत्य है कि मनुष्य की धारणाओं के प्रभाव से भी अर्थनीतिक दशा में परिवर्तन होता है। सुतराम् समाज के विवर्तन में मनुष्य अर्थनीतिक दशा के कर्तृत्वहीन क्रीड़नक मात्र नहीं है। वरन् भाववाद ने ही मनुष्य को अदृष्ट अथवा ईश्वर अथवा परमात्मा के अधीन बताकर उसे कर्तृत्व हीन कर दिया था और एक अदृश्य अज्ञेय रहस्यमय दैवशक्ति की आध्यात्मिक प्रेरणा के क्रीड़नक में परिणत किया था। यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद ने ही मनुष्य के हाथ में अपने अदृष्ट को नियंत्रित करने की शक्ति को लौटा दिया है। मार्क्सवाद के इस समाज नियंत्रणकारी वैलविक शक्ति के स्वरुप को

---

1 Anti Duhring P 396

समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस वैसविक स्वरूप को समझने के लिए ऐतिहासिक वस्तुवाद के अनिवार्य परिणाम श्रेणी संग्राम के सिद्धान्त को भी जानना आवश्यक है।

७

इतिहास के वस्तुवादी सिद्धान्त की पहली बात ही यह है कि "उत्पादन और उसके साथ उत्पादन-विनिमय ही प्रत्येक समाज व्यवस्था की भीत है; इतिहास में जिस भी समाज का आविर्भाव हुआ है उसी में उत्पादन का बटवारा और उसके साथ समाज के अन्दर श्रेणी विभाजन (division of society into classes or estates) का निर्धारण उत्पन्न द्रव्य, उत्पादन प्रणाली और विनिमय पद्धति के द्वारा ही हुआ है।"[1] यह नहीं कहा जा सकता है कि समाज में पहले ही स्पष्ट श्रेणी भेद वर्तमान था। उत्पादन शक्ति के विकास के फलस्वरुप ही समाज में धीरे-धीरे श्रेणीभेद का आविर्भाव हुआ है। एंगेल्स की भाषा में, 'मनुष्य जब पहले प्राणि-जगत् से निकल आया — (प्राणि जगत शब्द यहाँ पर संकीर्ण अर्थ में लिया जा रहा है) तब वे इतिहास में प्रविष्ट हुए। उस समय भी वे अर्धजन्तु और पाशविक प्रकृति वाले थे, प्राकृतिक शक्ति के सम्मुख वे असहाय थे, अपनी शक्ति के सम्बन्ध में वे तब भी अज्ञ थे; और इसीलिए वे जानवरों की तरह निःस्व और करीब-करीब उन्हीं की तरह उत्पादन शक्ति से रहित थे। जीवन दशाओं (Conditions of existence) में एक प्रकार की समता थी और परिवार के प्रभुओं में भी पदमर्यादा में समता थी—अन्ततः सामाजिक

---

1. Anti Duhring p 396.

श्रेणी का अभाव था जो परवर्ती युग के सभ्य-जातियों के स्वाभाविक कृषिमूलक समाज के अन्दर भी रह गया था[1] ।"

प्रारंभकाल से ही प्रत्येक मानव गोष्ठी के ऐसे कुछ साधारण स्वार्थ थे जिनकी रक्षा का भार विशेष-विशेष व्यक्तियों के हाथ सौंप दिया जाता था, यद्यपि ये लोग समग्र गोष्ठी के नियंत्रण के अधीन होते थे। इन व्यक्तियों को स्वभावतः कुछ प्रभुत्व करने का अधिकार दिया जाता था और इसी प्रकार से समाज में शासक श्रेणी की उत्पत्ति हुई थी ।[2] वह चाहे जो हो, इसमें विशेष सन्देह नहीं कि उत्पादन और विनिमय पद्धति के क्रम-विकास से ही अर्थात् अर्थनीतिक सम्बन्धों के विकास से ही समाजमें श्रेणीभेद का उद्‌भव हुआ है[3] । 'श्रेणी' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थ में होता है; हम यहाँ पर 'श्रेणी' शब्द की मार्क्सीय परिभाषा के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। किसी भी मानव समूह को हम उद्देश्य के अनुसार नाना प्रकार की श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं; लेकिन मार्क्स का लक्ष्य सामाजिक श्रेणीभेद है और वह भी फिर अर्थनीतिक उत्पादन के आधार पर। समाज में श्रमविभाजन के कारण सामाजिक श्रेणीभेद अनिवार्य हो उठता है, पर उससे अर्थनीतिक श्रेणीभेद अनिवार्य नहीं होता। समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के आविर्भाव के कारण उत्पादन प्रक्रिया में विभिन्न मनुष्य विभिन्न भूमिकाओं को ग्रहण करना शुरू करता है और समाज में अर्थनीतिक श्रेणीभेद की उत्पत्ति होती है[4] ।

---

1. Anti Duhring p 267.
2. Do p 268.
3. Origin of the Family ch IX.
4. Towards the Understanding of Karl Mark p 194-5

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मानव-समाज की आदिम दशा में मनुष्य की उत्पादन शक्ति के अत्यन्त अपरिणत और मामूली होने के कारण किसी प्रकार जीने लायक सामग्रियों को उत्पन्न करने के अलावा पण्य उत्पन्न करना उसके लिये सम्भव नहीं था। उत्पादन-शक्ति की अपरिणत दशा में केवल "अधिकतर श्रम-विभाजन के द्वारा ही उत्पादन शक्ति में वृद्धि, व्यापार का विस्तार, राष्ट्र और आइन कानून का विकास अथवा विज्ञान और कला का सूत्रपात सम्भव हुआ था।"[1] इसीलिए मामूली शारीरिक परिश्रम के लिये साधारण जनसमूह में श्रम-विभाजन का प्रयोजन होता है और समाज के थोड़े से अधिकार प्राप्त लोग श्रम-नियन्त्रण और व्यवसाय-वाणिज्य के संचालन और भी बाद को कला विज्ञान की चर्चा करने के अधिकार प्राप्त होते हैं।

कुछ लोगों के अधिक मेहनत के आधार पर ही उस समय समाज की अर्थनीतिक अग्रगति सम्भव हुई थी, इसीलिए सभ्यता के युग के प्रारम्भ में हम दास-प्रथा का प्रचलन देख पाते हैं। तत्कालीन परिस्थिति में दासप्रथा के प्रचलन से एक ओर से समाज दास और मालिक—शोषक और शोषित—इन श्रेणियों में विभाजित हुआ था, दूसरी ओर से अर्थनीतिक और सांस्कृतिक विकास में सहायता भी मिली थी।

कौमी (tribal) अथवा ग्राम-गोष्ठी के सामूहिक स्वामित्व के कारण उत्पादित द्रव्यों के बटवारे में साधारणतः समता विद्यमान थी। किन्तु जमीन के व्यक्तिगत अथवा परिवारगत विभाजन के कारण उत्पादन के बटवारे में विषमता और उसी के

1. Anti Duhring p 271.

फलस्वरूप श्रेणी विरोध (class antagonism) की उत्पत्ति अनिवार्य हो गयी; विशेषतः बड़ी-बड़ी खेतियों के कारण प्रभु और दास में, सामन्त और भूमिदास (serfs) में, पूँजीपति और मजदूर में श्रेणी विरोध उत्पन्न होने लगा। मुद्रा के प्रचलन से बटवारे की पद्धति में आमूल परिवर्तन हो गया और धनी दरिद्र का विरोध और भी अधिक उग्र होने लगा। इस बटवारे की विषमता से ही श्रेणीभेद का आविर्भाव हुआ। समाज विभिन्न श्रेणियों में—अधिकार वाले और अधिकार से वंचितों की, शोषक और शोषित की, शासक और शासित की श्रेणियों में बँट गया और जो राष्ट्र शक्ति पहले समाज के सर्वसाधारण के स्वार्थ की रक्षा के लिए बनी थी, वह राष्ट्रशक्ति अब से दुर्बल श्रेणी के ऊपर प्रबल शासक श्रेणी के अर्थनीतिक और राजनीतिक आधिपत्य को कायम रखने के उद्देश्य से नियोजित होने लगी।[1]

जिस दिन से मानव परिवार अपने प्रयोजन के अतिरिक्त उत्पादन करने लगा, जिस दिन से उसने श्रम के कुछ अंश को केवल अपनी जीवन-यात्रा के उपकरणों को बढ़ाने में लगाने के अलावा उत्पादन के उपायों के बढ़ाने में भी लगाया, उसी दिन से ही मानव समाज ने बर्बर दशा के बाहर निकलना शुरू किया।[2] लेकिन उत्पादन के अपरिणत विकास के कारण ही समाज में शोषक और शोषित श्रेणियों का, शासक और शासितों का आविर्भाव हुआ है। जब तक सामाजिक श्रम के द्वारा सब के किसी प्रकार जीवन धारण करने लायक द्रव्यों से कुछ ही

1. Anti Duhring p 221-22.
2. Anti Duhring p 289.

अधिक उत्पन्न होगा और इसी कारण समाज के लोगों के एक अत्यन्त बड़े हिस्से को सारा समय अथवा प्रायः सारा समय मेहनत में लीन रहना पड़ेगा, तब तक समाज श्रेणी-विभक्त रहने को बाध्य रहेगा। क्योंकि एक ओर तो समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा श्रम में डूबा रहता है और उसी के साथ एक दूसरी श्रेणी का आविर्भाव होता है जिसे प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक श्रम नहीं करना पड़ता, जिसे केवल श्रम का संचालन, शासन कार्य, न्याय (justice), विज्ञान, कला आदि समाज के साधारण कर्मों का संचालन करना पड़ता है। अतः श्रेणी विभाजन के मूल में श्रम विभाजन का नियम ही काम करता है, अवश्य उत्पादन की अपर्याप्तता ही श्रेणी विभाजन का आधार है।[1]

---

१ Anti Duhring p 418.

८

ऐतिहासिक समय के अन्दर वर्तमान समय तक हम श्रेणी विभक्त समाज के विकास को ही देखते आये हैं। उत्पादन पद्धति के परिवर्तन और विकास के कारण यह श्रेणीविभक्त समाज विभिन्न स्तरों से होकर अग्रसर हो रहा है इसमें सन्देह नहीं, पर उससे श्रेणीमूलक समाज के मौलिक स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ। अवश्य इस श्रेणी विभक्त समाज का आविर्भाव आदिम श्रेणीहीन वर्वर समाज से ही हुआ है। आदिम श्रेणी हीन समाज की प्रधान विशेषता यह थी कि वहां पर समग्र गोष्ठी सम्मिलित रूप से उत्पादन के मालिक थी और वहां पर नर-नारी निर्विशेष सब का समानाधिकार स्वीकृत था।[1] परन्तु उत्पादन शक्ति के बढ़ने से मनुष्य जब प्रयोजन से अधिक पैदा करने लगा तो उसी समय से धीरे-धीरे आदिम श्रेणीहीन समाज में श्रेणी भेद का सूत्रपात हुआ। पशुपालन प्रवर्तित होने से वर्वर समाज से पशुपालक समाज की एक स्वतंत्र सत्ता बन गई और पशुपालक समाज के लोगों ने अपनी जरूरत के अतिरिक्त नाना प्रकार के द्रव्यों को उत्पन्न करने के कारण विनिमय प्रथा का आविर्भाव हुआ। कृषि और पशुपालन के फलस्वरूप मनुष्य की उत्पादन की शक्ति बढ़ जाने से उत्पादित द्रव्यों का परिमाण भी बढ़ने लगा और विनिमय के द्वारा एक गोष्ठी समाज अन्य गोष्ठी समाज से अधिकतर समृद्धिशाली होने

---

१ Origin of the Family p 100.

लगी। इसी समय समाज में अधिकतर श्रम शक्ति की जरूरत पड़ी और दास प्रथा के द्वारा यह श्रम शक्ति प्रभूत परिमाण में बढ़ाई गयी। यहीं पर समाज में सर्व-प्रथम श्रेणी विभाजन का प्रारम्भ हुआ, समाज में प्रभु और दास का, शोषक और शोषित का आविर्भाव हुआ।[1]

पशु पालक समाज में सामूहिक स्वामित्व का अन्त होकर किस प्रकार और कब पशुओं के झुंडों के ऊपर भिन्न-भिन्न परिवारों का अधिकार हो गया यह कहना संभव न होनेपर भी, इस में विशेष सन्देह नहीं है कि इसी स्तर में उसका प्रारंभ हुआ था। इसी समय से समाज में और परिवार में पुरुष की प्रधानता स्वीकृत होने लगी और उत्पन्न द्रव्यों पर नारी का अधिकार न होने से उसका स्थान गौण हो जाने लगा और सामाजिक उत्पादन के काम से हट जाने से नारी केवल पारिवारिक गृह कर्मों में ही आवद्ध हो जाने लगी।[2]

लोहा के आविष्कार और इस्तेमाल के साथ ही साथ मनुष्य की उत्पादन शक्ति में एक वैसविक परिवर्तन शुरू हो गया। केवल खेती का परिमाण ही बहुत नहीं बढ़ा, अन्य शिल्पकर्मों का भी आविर्भाव हुआ। खेती के काम के अलावा भी मनुष्य बहुत से अन्य कारु कर्म में भी प्रवृत्त हुआ। श्रम-विभाजन का यह दूसरा अध्याय था। श्रम शक्ति की उत्पादकता में वृद्धि के कारण उत्पादन में जिस प्रकार लगातार वृद्धि होने लगी, उसी प्रकार दासों का प्रयोग भी केवल व्यक्तिगत प्रयोजन में ही सीमित नहीं रहा, विनियम के और धन-वृद्धि के उद्देश्य से पण्य

---

१ Origin of family p 170–71.

२ Origin of the family p 173.

उत्पादन के काम में असंख्य दास नियुक्त किये जाने लगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति के आविर्भाव से समाज में केवल पहले की तरह दास और स्वतंत्र मनुष्य ही नहीं रहे, नवीन श्रम विभाजन के फलस्वरूप धनी और दरिद्र का श्रेणी भेद भी पैदा होने लगा।[१]

बर्बर समाज में धन वृद्धि होने के कारण पारस्परिक ईर्षा और बाहुबल से एक गोष्ठी के धन सम्पत्ति को अन्य गोष्ठी के आयत्त करने की इच्छा जाग्रत हुई और उसी के कारण आदिम लोक-तांत्रिक समाज एक सामरिक लोकतंत्र में परिणत हुआ। इसी प्रकार से पहले जो गोष्ठी सम्मेलन अपने समाज के स्वाधीन नियंत्रण के लिए बने थे, वे धीरे-धीरे पड़ोसी गोष्ठियों के ऊपर अत्याचार और लूट-मार के काम में लग गये।[२]

विनियम व्यवस्था के आविर्भाव से समाज में श्रमविभाजन के तीसरा अध्याय का प्रारंभ हुआ अर्थात् इस व्यवस्था ने ऐसी एक श्रेणी को जन्म दिया जिसका काम उत्पादन से नहीं था, जिसका काम केवल उत्पन्न द्रव्यों का विनियम से था। इस वणिक श्रेणी के आविर्भाव से समाज में अर्थ कौलीन्य की सूचना हुई और विनिमय पद्धति के क्रम विकास के फलस्वरूप यह वणिक समाज प्रभुत्व और प्राधान्य को प्राप्त कर रहा है और एक ओर से थोड़े से लोगों के पास धन का केन्द्रीकरण और दूसरी ओर बहुसंख्यक जनसाधारण का दरिद्रीकरण दिनोदिन बढ़ते जा रहे हैं। समाज के अन्दर श्रेणीविरोध क्रमशः विकट से विकट होता जा रहा है।[3]

---

१ Origin of the Family p 173-74

२ Do p 175.

३ Origin of the Family. p. 176.

एंगेल्स के शब्दों में, "हीनतम स्वार्थप्रवृत्ति-नीच लोलुपता, पाशविक कामना, हीन लोभ और सर्वसाधारण के धन के ऊपर डकैती के द्वारा नवीन सभ्य श्रेणी-समाज का प्रवर्तन होता है; चोरी, बल प्रयोग, प्रतारणा, विश्वास-घात-इन घृणित उपायों से गुप्त रूप से प्राचीन श्रेणीहीन गोष्ठी समाज (Gentile society) का सर्वनाश कर उसका विनाश किया जाता है। और इस नवीन समाज ने भी अपने अस्तित्व के इन ढाई हजार वर्ष तक शोषित और अत्याचारित अत्यन्त संख्याधिक समुदाय को क्षतिग्रस्त कर अल्पसंख्यक मनुष्यों के विकास के अलावा और कुछ नहीं किया है।"[१]

समाज के विकास के परवर्ती आधुनिक अध्याय का जो संक्षिप्त विवरण एंगेल्स ने दिया है यहाँ पर उसका सार दे देना अप्रासंगिक न होगा।

मध्य-कालीन समाज के सामन्ती व्यवस्था में किसान परिवार अपनी जरूरत से अतिरिक्त विशेष कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता था; सामन्त मालिक के प्रयोजनों को मिटा कर, वह जो कुछ उत्पन्न करता था, उससे उसके पास बहुत ही कम बचता था। जो कुछ थोड़ी-सी बचत होती थी वह अवश्य ही बेची जाती थी। इसी समय से पण्य प्रथा का सूत्रपात हुआ। लेकिन पण्य प्रथा के अन्दर सामाजिक उत्पादन की विशृंखला का जो बीज छिपा हुआ था वह उस समय स्पष्ट नहीं हुआ। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के फलस्वरूप सामाजिक उत्पादन की विशृंखला प्रकट हो पड़ी। बड़े-बड़े कारखानों में उत्पादन पद्धति का केन्द्रीकरण होने के कारण व्यक्तिगत उत्पादन पद्धति सामाजिक उत्पा-

१ Origin of the Family p 102.

दन पद्धति में परिणत हुई अर्थात् कोई भी वस्तु अब एक मात्र व्यक्ति विशेष के प्रयास का फल न होकर बहुत से व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयासों का फल हो गई; लेकिन इस उत्पादित द्रव्य के ऊपर उत्पादनकारी मजदूर समाज का अधिकार न होकर उस-पर पूँजीपति का अधिकार प्रतिष्ठित हो गया। उत्पादन पद्धति के (कल इत्यादि उत्पादन के साधनों के) ऊपर अधिकार स्थापित होने के कारण उत्पन्न द्रव्य पूँजीपति के हाथ में पण्य में परिणत हो गया और पूँजीपति शोपक और मजदूर शोषित हो गये। इसका कारण सामाजिक उत्पादन के ऊपर व्यक्तिगत अधिकार। उत्पादन एक सामाजिक क्रिया हो गया परन्तु विनिमय और तज्जनित धन लाभ यहाँ पर व्यक्तिगत व्यापार होगया। पूँजीवादी व्यवस्था का यही अन्तर्निहित विशृंखलाकारी स्वरूप है। इससे उत्पादनकारी जीवन भर वेतन दास (wage slave) रह कर अभाव और गरीबी से पीड़ित होने को बाध्य होता है और इस पद्धति से ही सर्वहारा और धनी वणिक सम्प्रदायों मे श्रेणी विरोध उत्पन्न होता है। पण्य-उत्पादन के क्षेत्र में प्रतियोगिता होने के कारण एक ओर से तो कलकारखानों के संगठन में वृद्धि होती रहती है और दूसरी ओर से समग्ररूप में उत्पादन के क्षेत्र में अराजकता बढ़ती जाती है अर्थात् सामाजिक प्रयोजन के द्वारा उत्पादन का नियंत्रण न होकर व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से उत्पादन अनियंत्रित, सुत-राम् अपरिमित हो उठता है और इसी से दोनों में विरोध तीव्र हो उठता है। एक ओर कलकारखानों की यांत्रिक उन्नति के कारण मजदूर वर्ग में बेकारी की वृद्धि, दूसरी ओर प्रतियोगिता के कारण अनियंत्रित उत्पादन। एक ओर प्रयोजन के अतिरिक्त द्रव्यों का उत्पादन और दूसरी ओर से जीवन धारण के उपाय

से वंचित बेकार मजदूरों की संख्यावृद्धि—पूँजीवादी उत्पादन पद्धति का यही मौलिक और अनिवार्य संकट है। इसके मूल में उत्पादन पद्धति और विनिमय पद्धति का संघर्ष है।[1]

उत्पादन पद्धति के उपायों को व्यक्तिगत अधिकार से मुक्त कर उन्हें सामाजिक सम्पत्ति में परिणत कर, विनिमय को व्यक्तिगत धन-वृद्धि के उपाय न बनाकर यदि सामाजिक हितों में लगाया जाय तो पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के संकट और तज्जनित श्रेणी संघर्ष से समाज को मुक्त किया जा सकता है।

---

१ Anti Duhring p 421-23.

१

वस्तुतः उत्पादन और विनिमय के सम्बन्धों की सामाजिक अभिव्यक्ति ही अबतक इतिहास में—(आदिम युग की बात छोड़ कर)—श्रेणी विरोध के रूप में दिखाई दी है। इस अर्थ-नीतिक दशा से उद्भूत श्रेणी विरोध की समाप्ति आप ही आप, अथवा नैतिक अथवा धार्मिक उपदेश के द्वारा कभी भी संभव नहीं है। अथवा अर्थनीतिक दशा आप ही से बदल जाने से श्रेणी विरोध का अवसान हो जायगा ऐसा सिद्धान्त भी मार्क्सीय दृष्टि का अनुकूल नहीं है। पहले श्रेणी विरोध का श्रेणी संग्राम में परिणत हो जाना चाहिऐ। अर्थ-नीतिक उत्पादन में हिस्सेदार विभिन्न श्रेणियों में जो विरोध है वह उनके स्वार्थगत विरोध है, किन्तु साधारणतः—शोषित श्रेणियों के लिए संग्राम में प्रवृत्त होना नाना कारणों से बहुत आसान नहीं है। वास्तव में शोषकवर्ग के शक्तिशाली होने के कारण दुर्बल शोषित श्रेणी संग्राम में प्रवृत्त होने का साहस नहीं करती। उत्पादन-शक्ति के विकास के फलस्वरूप आज उत्पादन के साधन अर्थात् कल कार-खाना आदि जिनकी सम्पत्ति है वे सभी प्रकार से सुरक्षित हैं; उनकी जीवन-यात्रा अनायास, और विपद की संभावना से मुक्त है। किन्तु उनके अधीन जो लोग अपनी श्रम-शक्ति को बेच कर जीविका अर्जन करने के लिए बाध्य हैं, उनका जीवन दुःख संकटों से भरा है, वे कभी भी अपने सांसारिक जीवन में निरापद और स्वच्छन्द नहीं अनुभव कर सकते। इन दो

श्रेणियों में जमीन-आसमान का अन्तर है। इसीलिए शोषितों के लिए संग्राम में प्रवृत्त होना सहजसाध्य नहीं है। लेकिन फिर भी अर्थनीतिक परिस्थिति से जब उनके लिए जीना असंभव हो उठता है, तभी श्रेणी, संग्राम की संभावना आसन्न होती है। यदि शोषित वर्ग उस समय शोषण के कारण के बारे में सचेत हो उठे तभी वह श्रेणी, विरोधी श्रेणी के विरुद्ध संग्राम में अवतीर्ण होती है। श्रेणी सचेतनता ही शोषित वर्ग को संग्राम के पथ पर पुकार सकती है। इस सचेतनता के बिना संग्राम असंभव है।[1]

किन्तु इस श्रेणी-विरोध के सचेतन विरोध में परिणत होने के रास्ते में कुछ अन्य प्रकार के सामाजिक विरोध वर्तमान रहने के कारण प्रायः यह मौलिक अर्थनीतिक श्रेणी-विरोध प्रच्छन्न रह जाता है। एक ही शोषित श्रेणी के भिन्न-भिन्न अंश इन कारणों से परस्पर विरोधी हो उठते हैं, और फलस्वरूप असल जो श्रेणीगत विरोध है उस सम्बन्ध में सचेतन होकर वे लड़ाई के लिए एकताबद्ध नहीं हो सकते। एक ही श्रेणी के अन्दर दक्ष और अ-दक्ष काम करनेवालों का विरोध, दरिद्र कामगर के साथ अपेक्षाकृत सम्पन्न कामगर का विरोध, गोरे काले का विरोध, प्रादेशिकता का विरोध, धर्म साम्प्रदायिकता का विरोध आदि के रहने के कारण, अर्थनीतिक दृष्टि से एक ही श्रेणी के होते हुए भी वे शोषकवर्ग के विरुद्ध एकताबद्ध नहीं हो सकते; इन अवान्तर विरोधों के नीचे यथार्थ श्रेणी-विरोध दब जाता है। अतः अर्थनीतिक परिस्थिति में जीवन धारण कठिन हो उठने

---

१ Towards the Understanding of Karl Marx P 20

पर भी श्रेणी-विरोध की चेतना दब जाने से श्रेणी-संग्राम का उद्भव नहीं भी हो सकता है।[१]

वस्तुतः श्रेणी-विरोध से श्रेणी-सचेतनता उत्पन्न न हो सके इसलिए एक राजनीतिक शक्ति अविराम काम करती रहती है। इस शक्ति का नाम 'स्टेट' वा राष्ट्रशक्ति है। समाज के श्रेणी-विभक्त होने के पहले भी आदिम श्रेणी-हीन समाज के कुछ साधारण स्वार्थों की रक्षा के लिए कुछ क्षमता-युक्त पद की सृष्टि हुई थी, और उसी से राष्ट्र-शक्ति की सूचना हुई थी, यह बात पहले कही गई है। किन्तु उस समय समाज में अर्थनीतिक श्रेणी भेद न होने से वह राष्ट्र शक्ति समग्र समाज का ही प्रतिनिधि थी और समग्र समाज के स्वार्थों की रक्षा करना ही राष्ट्रशक्ति का कर्तव्य था। लेकिन श्रेणीविभक्त समाज में इस राष्ट्रशक्ति का स्वरूप और उसकी प्रकृति सम्पूर्ण बदल गई। जिस समाज मे सामाजिक साम्य नहीं है, व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर विषमता और वर्गीय शोषण जहाँ पर विद्यमान है, वहाँ पर धन और सम्पत्ति के मूलाधार सम्पत्ति सम्बन्धी सम्बन्धों की रक्षा करने के लिए ही राष्ट्र-शक्ति का प्रयोजन होता है। इसी कारण मार्क्स की भाषा में, "तथा कथित राजनीतिक शक्ति एक श्रेणी के द्वारा दूसरी श्रेणी के निर्यातन करने के लिए संगठित शक्ति मात्र है।"[२] परन्तु साधारणतः राष्ट्र के इस श्रेणी स्वार्थ की रक्षा करने वाले स्वरूप को छिपाया जाता है और श्रेणीहीन समाज में राष्ट्रशक्ति के बारे में मनुष्यों के मन में जो

---

१ Towards the Uuderstanding of Karl Marx p 199.

२ Lenin : Selected Works (2 Vol Edn) Vol II p 144

संस्कार था उसी संस्कार को परिपुष्ट करने की कोशिश की जाती है। इसीलिए राष्ट्रशक्ति अपने को समाज के सभी श्रेणियों से परे, सम्पूर्ण निरपेक्ष, निष्पक्ष और सभी श्रेणियों के प्रति न्याय-विचार करने वाली बताती है। निरपेक्ष विचारक का नकाब पहन कर तब राष्ट्र-शक्ति समाज के श्रेणीविरोध को यथाशक्ति छिपाने की कोशिश करती है और एक श्रेणी के द्वारा अन्य श्रेणी के शोषण को कायम रखने की चेष्टा करती है। राष्ट्र-शक्ति की सहायता के बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति टिक नहीं सकती, क्योंकि एकमात्र राष्ट्र-शक्ति ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के कानूनी अधिकार को अपनी सशस्त्र शक्ति के द्वारा सुरक्षित रखती है और व्यक्तिगत सम्पत्ति की 'पवित्रता' को अन्य व्यक्तियों के आक्रमण से बचाती है।[1]

इसीलिए श्रेणी विरोध के अर्थनीतिक कारण अत्यन्त उत्कट हो उठने पर भी, राष्ट्र-शक्ति के और अन्य सामाजिक विरोधों के फलस्वरूप वह श्रेणीसचेतन होकर श्रेणी संग्राम का रूप नहीं धारण कर सकता। इस बाधा को हटाने के लिए ही एक विशेष राजनीतिक दल की सहायता और सहकारिता का प्रयोजन होता है। अवश्य राजनीतिक दल की मदद के बिना भी श्रेणी संग्राम असंभव नहीं है, किन्तु इस प्रकार का श्रेणी संग्राम यथार्थ वैसविक संग्राम का रूप नहीं ले सकता। उत्पादन के ऊपर श्रेणी विशेष का अधिकार ही श्रेणी विरोध का मौलिक कारण है, यह पहले ही बताया जा चुका है। इसीलिए श्रेणी संग्राम के प्रति कोई भी राष्ट्र उदासीन नहीं रह सकता। श्रेणी विशेष के स्वार्थों

---

१ Towards the Understanding of Karl Marx p 220.

के संरक्षण के उद्देश्य से राष्ट्र-शक्ति को अदालत, सेना और पुलिस का सहारा लेना पड़ता है; केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक श्रेणी संग्राम ही मूलतः राष्ट्रसत्ता के भी विरुद्ध संग्राम है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।[४]

---

१ Towards the Understanding of Karl Marx p 204.

१०

साधारणत: ऐसा समझा जाता है कि श्रेणी संग्राम केवल एक अर्थनीतिक संग्राम है और इसके साथ राष्ट्र-शक्ति का कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। किन्तु मार्क्सीय दृष्टिकोण से जो श्रेणी संग्राम को देखेंगे उनके लिए ऐसी धारणा करना संभव नहीं है। क्योंकि श्रेणी संग्राम मूलतः श्रेणी विशेष के शोषण के विरुद्ध संग्राम है। अतः श्रेणी संग्राम का अन्त तब तक किसी प्रकार से संभव नहीं जब तक शोषण के अनुकूल सामाजिक परिस्थिति का अवसान न किया जाय। अथच शोषण के अनुकूल सामाजिक परिस्थिति को अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति की 'पवित्रता' और 'अलंघ्यता' की रक्षा के लिए ही राष्ट्रशक्ति अपनी सेना पुलिस और अदालत लिए उद्यत रहती है। सुतराम् प्रत्येक श्रेणी संग्राम को ही इस राष्ट्रशक्ति की विरोधिता का सामना करना पड़ता है और श्रेणीसंग्राम को अर्थनीतिक संग्राम के क्षेत्र को पार कर राजनीतिक संग्राम के क्षेत्र में उतरना पड़ता है। संक्षेप में, श्रेणी संग्राम का अवसान एकमात्र राष्ट्रसत्ता का अन्त करके ही संभव है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रेणी संग्राम का मौलिक और अन्तिम उद्देश्य श्रेणीहीन समाज की प्रतिष्ठा करना है क्योंकि एकमात्र श्रेणीहीन समाज में ही शोषण का ऐकान्तिक अभाव होना संभव है।

यह वैसविक आदर्श ही मार्क्सवाद का मौलिक आदर्श है। किन्तु मार्क्सवाद केवल चरम आदर्श के प्रचार से ही सन्तुष्ट

नहीं रहता; सामाजिक विकास की अन्तर्निहित प्रेरणा के अन्दर ही इस आदर्श की वास्तव सम्भावना विद्यमान है, मार्क्सीय विचार विश्लेषण इसी बात का प्रचार करता है। इसलिए मार्क्सवाद एक विशिष्ट कर्मपद्धति भी है। प्राकृतिक शक्ति जिस प्रकार स्वतः सुसंगठित विज्ञान में परिणत नहीं हुई, उसी प्रकार सामाजिक-अर्थनीतिक शक्तियाँ भी स्वतः विकसित होकर मानव समाज को श्रेणीहीन समाज की ओर नहीं ले जातीं। 'मनुष्य ही इतिहास का निर्माता है' इसे कभी भूला नहीं जा सकता।

यही कारण है कि अन्ध अर्थनीतिक शक्तियों के परिणाम-स्वरूप मानवसमाज में विप्लव संभव नहीं है; सामाजिक शक्तियों को सुनिर्दिष्ट रास्ते से संचालित कर मानव समाज श्रेणी संग्राम का अन्त कर शोषण का ऐकान्तिक निराकरण कर सकता है। इस उद्देश्य से राजनीतिक दल की आवश्यकता अनस्वीकार्य है। आशा है कि इस विषय की आलोचना की आवश्यकता अब नहीं है कि सामाजिक उत्पादन के जो साधन हैं उनके नियंत्रण में आमूल परिवर्तन ही समाज विप्लव का एकमात्र उपाय है। किन्तु यह समाज विप्लव राष्ट्रशक्ति का अन्त किये बिना किसी प्रकार से संभव नहीं है। इसीलिए मार्क्सवादी होने के लिए विप्लवी न होकर उपाय नहीं है। किन्तु साधारणतः विप्लव से हम जिस द्रुत और आकस्मिक परिवर्तन की कल्पना करते हैं, मार्क्सीय विप्लव का अर्थ उससे बिलकुल भिन्न है। इसलिए मार्क्सीय विप्लव क्या है सबसे पहले उसका समझना प्रयोजन है।[1]

---

१ Towards the Understanding of Karl Marx p 230.

अवश्य विप्लववादियों में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समझते हैं कि एकाएक राष्ट्र-यंत्र पर कब्जा कर लेने से ही समाज में साम्यवाद अथवा समाजवाद की प्रतिष्ठा संभव हो सकती है। किन्तु मार्क्स अथवा एंगेल्स, कोई भी (Coup d'etat) में (सशस्त्र अथवा गैर कानूनी उपाय से शासनतंत्र के परिवर्तन में) विश्वास नहीं करते थे। मार्क्स की राय में, केवल भाववादी आदर्श की प्रेरणा से, केवल इच्छा की प्रेरणा से विप्लव नहीं लाया जा सकता। विप्लव के लिए उपयुक्त वस्तुस्थिति की आवश्यकता होती है। अर्थनीतिक, राजनीतिक और मनस्तात्विक परिवेश प्रस्तुत न होने तक विप्लव कभी भी सफल नहीं हो सकता। इसलिए विप्लव के लिए केवल आन्तरिक इच्छा का होना ही वैप्लविक प्रयास के लिए पर्याप्त नहीं है; उपयुक्त वस्तु स्थिति का ज्ञान भी विप्लवी के लिए अनिवार्य प्रयोजन है।[१] समाज के श्रेणीविरोध को सचेतन कर उसे विप्लव के अभिमुख करने के लिए राजनैतिक दल की जरूरत है। यह राजनीतिक दल अपने आदर्श के आधार पर शोषित श्रेणी के लोगों को श्रेणी संग्राम की ओर बढ़ने के लिए सक्रिय कर्मपन्था बतलाता है और वास्तविक अनुभव के रास्ते से उसे शिक्षित करता है जिसके फलस्वरूप वे क्रमशः श्रेणीसचेतन हो उठते हैं और अपनी श्रेणी के अन्दर जो अन्य प्रकार के (धार्मिक, साम्प्रदायिक आदि) विरोध हैं उन्हें तुच्छ कर एकताबद्ध हो उठते हैं।

श्रेणी विरोध को वैप्लविक श्रेणीचेतना में परिणत करने के लिए वैप्लविक राजनीतिक दल की अत्यन्त आवश्यकता है।

---

१ Towards the Understanding of Karl Marx p 230—31.

इस दल के नेतृत्व में श्रमिक श्रेणी जब अपने अस्तित्व के कार्य-कारण सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त कर अपने आदर्श की स्थापना के लिए प्रबुद्ध हो उठती है तभी इस श्रेणी को यथार्थ में श्रेणी सचेतन कहा जा सकता है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि वस्तु-स्थिति के अनुकूल और उपयुक्त वैसविक कर्मसूची न होने से श्रमिक श्रेणी उसका समर्थन कभी नहीं कर सकती है। केवल वैसविक मत प्रचार के द्वारा विसव संभव नहीं है। जनगण की राजनीतिक अभिज्ञता से जब श्रमिक श्रेणी के अधिकांश की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है तभी विप्लव संभव हो सकता है।[1] अनुकूल वस्तु-स्थिति और वैप्लविक आन्दोलन इन दोनों के संयोग से ही वैप्लविक परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है। किसी विप्लव को सफल बनाने के लिए केवल सुदीर्घ प्रस्तुति का प्रयोजन ही पर्याप्त नहीं है। वैसविक परिस्थिति का होना भी अत्यावश्यक है।

महान् विप्लवी लेनिन विप्लव के नियम के बारे में जो कहा है वह विशेपरूप से उल्लेखनीय है। वह कहते हैं:—

"सभी विप्लवों के द्वारा, विशेषत: बीसवीं शताब्दी के तीनों रूसी विप्लों के द्वारा विप्लव के जिस मौलिक नियम को समर्थन प्राप्त हुआ है वह यह है कि, विप्लव के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि शोषित और अत्याचारित जनगण पुराने तरीके से जीवन यात्रा असंभव समझ कर परिवर्तन की माँग करे; विप्लव के लिए अत्यन्त आवश्यक बात यह है कि शोपक लोग पुरानी प्रथा से जीवन धारण और शासन न कर सकें।

---

१ Left wing Communism : Selected Works of Lenin Vol II p. 620.

केवल जब 'निम्नवर्ग' पुरानी पद्धति को नहीं चाहेगा और 'उच्चवर्ग' पुरानी पद्धति से जीवनयात्रा करने में असमर्थ होगा, उसी समय विप्लव जययुक्त हो सकता है।[1] इस सत्य को अन्य शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है: (शोषक और शोषित दोनों को लेकर राष्ट्र जाति (nation) व्यापी संकट के विना विप्लव असंभव है। इसका मतलब यह है कि विप्लव के लिए, प्रथमत: श्रमिकों के अधिकांश के लिए (अथवा कम से कम, श्रेणी सचेतन, मननशील, राजनीतिक सक्रिय कर्मियों के अधिकांश के लिए) यह पूर्णरूप से समझना कि विप्लव जरूरी है और उसके लिए जीवन को उत्सर्ग करने के लिए तैयार होना अवश्य प्रयोजन है; द्वितीयत:, शासकवर्गों की एक ऐसे शासन संकट में पड़ना चाहिए जो सबसे पिछड़े हुए जनगण को भी राजनीति के अन्दर खींच लावेगा, (अब तक उदासीन अथच राजनीतिक संग्राम करने में समर्थ मेहनतकश और अत्याचारित जनगण की संख्या में द्रुत दसगुनी, यहाँ तक कि सौगुनी वृद्धि प्रत्येक यथार्थ विप्लव का लक्षण है), सरकार को दुर्बल कर डालेगा, और विप्लवियों के द्वारा इसके द्रुत पतन को संभव कर देगा।"[2]

---

१ अन्य अनुवाद के अनुसार "जब जनगण पुरानी व्यवस्था को (old-regime) नहीं चाहते हैं और जब शासक पहले की तरह शासन करने में असमर्थ होते हैं, केवल उसी समय विप्लव सफल हो सकता है।"—Towards the Understanding of Karl Marx p. 233.

२ Leftwing Communism: Selected Works of Lenin Vol II p. 621.

लेनिन फिर कहते हैं कि 'सर्वहारा के अग्रगामी दल को भावना में (ideologically) दल में लाया जा सका है, यही प्रधान बात है। ऐसा न होने पर विजय की ओर एक कदम भी बढ़ नहीं सकते। परन्तु, तथापि यह विजय से काफी दूर है। केवल अगुए दल की सहायता से ही जीत नहीं हो सकती। जब तक सारी श्रेणी, विशाल जनगण अगुएदल को सीधे तरीके से मदद देने की हालत में अथवा कम से कम उसके प्रति अनुकूल निरपेक्षता का अवलम्बन करने की दशा में न आ जायगी और ऐसी दशा में नहीं आ जायगी जहाँ से उनके लिए शत्रु को मदद देना असंभव हो जायगा, तब तक केवल अगुए दल को चरम निर्णायक युद्ध में लगाना केवल मूर्खता ही नहीं है, अपराध है।* जिससे वास्तविक समग्र श्रेणी, मेहनतकश विशाल जनता और पूँजीवाद के द्वारा अत्याचारित लोग इस दशा में आ सके इसलिये प्रचार और आन्दोलन (Propaganda and agitation) पर्याप्त नहीं है। इसके लिए जनगण को अपना राजनीतिक अनुभव रहना चाहिये। सब बड़े-बड़े विप्लवों का यही मौलिक नियम है ...[1]

वैप्लविक परिस्थिति कभी आप ही आप विप्लव में परिणत नहीं होती। इसके लिए एक वैप्लविक राजनैतिक दल का एकान्त प्रयोजन है। केवल वैप्लविक परिस्थिति के चरम मुहूर्त में ही नहीं, वैप्लविक परिस्थिति के पैदा होने के बहुत पहले से सामा-

---

१. Left Wing Communism : Selected Works of Lenin Vol II p. 621.

*"In moments of crisis stupidity becomes a crime"—Marx quoted in "Towards the Understanding of Karl Marx" p. 231.

जिक असन्तोष के प्रत्येक क्षेत्र में इस वैप्लविक दल को सक्रिय रूप में काम करना होगा और आगामी विप्लव के लिए समग्र जनगण को तैयार करना होगा[1]। इस आगामी विप्लव की गति किधर होगी उस सम्बन्ध में इसके पहले एंगेल्स के सामाजिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना में कहा गया है।

---

१. Towards the Understanding of Karl Marx p 234.

११

ढाई हजार वर्षों से समाज जिस श्रेणी विभाग के रास्ते से बढ़ चला है, पूँजीवादी समाज उस पथ का अन्तिम पर्याय है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति समाज को आज एक चरम संकट की ओर, एक भयावह विपर्यय की ओर ले जा रही है। पूँजीवादी राष्ट्रशक्ति पूँजीवाद की रक्षा के अमानुषिक प्रयास में सर्वहारा के जीवन को असहनीय दुःख दुर्दशा के निम्नतम स्तर में ढकेलती चली जा रही है। इसीलिये इस बार का जो विप्लव होगा वह सर्वहारा का विप्लव है। धनिक श्रेणी का और धनिक राष्ट्र का विनाश इस विप्लव का लक्ष्य है। इतने दिन अगणित मानव-समूह के ऊपर, मजदूर और किसानों के ऊपर, थोड़े से धनियों का राष्ट्रशासन चला आ रहा है। अब की बार संख्याबहुल सर्वहारा का दल धनिक वर्ग के ऊपर राष्ट्रीय प्रभुत्व स्थापित करेगा। श्रेणी संग्राम की परिणति सर्वहारा का अधिनायकत्व होगा। 'सर्वहारा के अधिनायकत्व'—Dictatorship of the Proletariat—के नाम से बहुत से लोग नाक-भौं चढ़ाते हैं क्योंकि अधिनायकशाही अर्थात 'डिक्टेटरशिप' शब्द के साथ व्यक्ति-विशेष के स्वच्छाचारमूलक शासन का भाव सम्बद्ध है। परन्तु मार्क्स ने 'सर्वहारा के अधिनायकत्व' के द्वारा केवल सर्वहारा श्रेणी के प्रभुत्व को ही समझना चाहा था।

नैराज्यवादियों (anarchists) की धारणा यह थी कि रातोरात विप्लव कर राष्ट्र को वर्जन करने से ही सारे अत्याचार

और शोषण का, सारी श्रेणी-विषमता का अन्त हो जायगा। मार्क्स ने ही सबसे पहले यह घोषणा की कि श्रेणी विभाजित समाज एकाएक एक दिन में श्रेणी-हीन समाज में परिणत नहीं हो सकता। इस श्रेणी-समाज को श्रेणीहीन समाज में परिणत करने के लिए एक मध्यवर्ती स्तर से गुजरना पड़ेगा। इस स्तर में समाज सर्वहारा के अधिनायकत्व के अधीन रहेगा। मार्क्स ने स्पष्ट बताया है कि राष्ट्रशक्ति एक श्रेणी के द्वारा अन्य श्रेणी को दमन करने का हथियार है। सुतराम् सर्वहारा के विप्लव के पश्चात् जो राष्ट्र प्रतिष्ठित होगा, वह राष्ट्र भी सर्वहारा वर्ग के राष्ट्र के रूप में शोषक श्रेणी का दमन और अन्त में उसका निर्मूलन करेगा।

समाज-विकास के एक स्तर में राष्ट्रशक्ति का प्रयोजन और आविर्भाव ऐतिहासिक-अर्थनीतिक कारण से ही हुआ था; फिर इस अर्थनीतिक विकास से ही राष्ट्र का अस्तित्व अनावश्यक हो रहा है। एंगेल्स ने राष्ट्र के विकास और विलोप के सम्बन्ध में जो बात कही है वह अत्यन्त अर्थपूर्ण है। वह कहते हैं, "सुतराम् राष्ट्र नित्यकाल से ही है ऐसी बात नहीं है। ऐसे समाज हो गये हैं जिन्होंने इसके बिना ही अपना काम किया था, राष्ट्र और राष्ट्रशक्ति के सम्बन्ध में उनकी कोई भी धारणा नहीं थी। समाज के श्रेणीविभक्त होने के साथ आवश्यक रूप से सम्पर्कित अर्थनीतिक विकास के स्तर में उस विभाजन के कारण ही राष्ट्र की आवश्यकता हुई थी। उत्पादन के विकास के एक ऐसे स्तर की ओर हम तेजी के साथ अग्रसर हो रहे हैं जिसमें इन श्रेणियों का अस्तित्व केवल अनावश्यक ही नहीं हो गया, बल्कि उत्पादन के रास्ते में ये (श्रेणियाँ) निश्चित बाधा हो उठी हैं। पूर्व कालीन स्तर में

जिस प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार अनिवार्य रूप से इनका पतन भी होगा। इनके साथ राष्ट्र का भी निश्चित पतन होगा। जब उत्पादनकारियों की स्वाधीन और समान सहकारिता के आधार पर समाज नये तरीके से संगठित होगा, उस समय समाज समग्र राष्ट्र-यंत्र को यथास्थान में रख देगा अर्थात् पुरातत्व के जादू घर में चरखा और ब्रोंज की कुल्हाड़ी के साथ रख देगा।"[१]

किन्तु राष्ट्रयंत्र का विनाश और विलुप्ति नैराज्यवादियों के आकस्मिक राष्ट्र-वर्जन जैसा व्यापार नहीं है, राष्ट्र-यंत्र के पूर्ण रूप से वर्जित होने के पहले बुर्जोआ पूँजीवादी राष्ट्र के स्थान पर सर्वहारा के नियंत्रणाधीन प्रोलेटारियाट राष्ट्र वा सर्वहारा-राष्ट्र संगठित होगा, मार्क्स और एङ्गेल्स ने बहुत पहले (१८४७ ई०) कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (साम्यवादी इश्तेहार) में स्पष्ट शब्दों में इसका उल्लेख किया है। उसमें कहा गया है,··· "हम लोगों ने ऊपर देखा है कि मजदूर श्रेणी के द्वारा संगठित विप्लव का पहला कदम ही सर्वहारा को शासकवर्ग के स्थान पर उन्नती करना आर जनतन्त्र के लिए लड़ाई को जीतना है।"[२] सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व श्रेणीसग्राम का आवश्यक परिणाम है और यह अधिनायकत्व श्रेणीविभक्त समाज से सारी श्रेणियों का वर्जन और श्रेणीहीन समाज में परिणत होने का मध्यवर्ती अध्याय है, सबसे पहले मार्क्स ही इस नवीन सिद्धान्त पर पहुँचे थे।

श्रेणीहीन और राष्ट्र-हीन समाज की कल्पना इसके पहले भी मनुष्य के मन में नहीं उठी ऐसी बात नहीं है, लेकिन

---

१ Origin of the Family ch ix p. 185.

२ Selected Works of Karl Marx Vol I, p. 377.

किसी भी सामाजिक आदर्श की सफलता का निर्भर ऐतिहासिक वस्तुस्थिति के ऊपर होता है और समाज के विशेष प्रकार की अर्थनीतिक दशा के आनुकूल्य के द्वारा ही किसी आदर्श की वास्तव संभाव्यता निश्चित होती है; केवल आदर्श का न्यायानुगत औचित्य ही उसकी सफलता के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसीलिए श्रेणीविभक्त समाज की भी आवश्यकता और औचित्य है। उत्पादन की दशा के ऊपर ही श्रेणी विभाजन का आधार था।[1] इसीलिए श्रेणीगत भेद के वर्जन के लिए भी "समाज के ऐतिहासिक विकास का एक ऐसे स्तर पर पहुँचना आवश्यक था जहाँ श्रेणी विभाग का कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके लिए उत्पादन शक्ति का ऐसा विकास होना आवश्यक है जिससे उत्पादन के साधन और उत्पन्न द्रव्य के ऊपर (श्रेणी विशेष का) अधिकार (appropriation) और उसी के साथ समाज के वर्ग विशेष का प्रभुत्व, शिक्षा के ऊपर एकाधिकार और बौद्धिक नेतृत्व केवल अनावश्यक ही नहीं हो उठेगा, बल्कि अर्थनीतिक, राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी विकास के प्रतिबाधक हो जायगा।"[2]

मानव समाज आज अर्थनीतिक विकास के उस पर्याय में आ पहुँचा है जहाँ पर श्रेणीहीन समाज का आदर्श एक वास्तव, ऐतिहासिक संभाव्यता हो उठा है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के फलस्वरूप मानव समाज का एक अत्यन्त वृहत् अंश आज सर्वहारा में परिणत हुआ है। इसीलिए स्वल्प संख्यक लोगों के द्वारा उत्पादन के साधन और उत्पन्न द्रव्यों के ऊपर अधिकार हो जाने के कारण जो उत्कट संकट उपस्थित हुआ है, उसका

१ Anti Duhring p 417–18.

२ Anti Duhring p 419.

निराकरण भी एक अनिवार्य ऐतिहासिक प्रयोजन हो गया है। प्रचंड सामाजिक विप्लव के द्वारा ही पूँजीवादी समाज के अन्तर्निहित अनिवार्य संकट का समाधान सम्भव है। इसीलिए एङ्गेल्स का कहना है कि "उत्पादन के विशाल सामाजिक साधनों की उत्तरोत्तर अधिक परिमाण में राष्ट्रीय सम्पत्ति में परिणत कर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति ने स्वयम् ही इस विप्लव का पथनिर्देश कर रहा है। सर्वहारा श्रेणी राष्ट्र शक्ति के ऊपर अधिकार स्थापित करती है और पहले उत्पादन के साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति में परिणत करती है।"[१] इससे स्वल्प-संख्यक लोगों के द्वारा अधिकृत उत्पादन के साधन और उत्पन्न द्रव्य उन लोगों के विपुल लाभ और बाकी समाज के बृहत्तम मानव-समुदाय के शोषण और दरिद्रता के कारण न होकर वह बृहत्तम मानव-समुदाय की सेवा में नियोजित होते हैं। इसीलिए इसके पश्चात् एङ्गेल्स कहते हैं कि "इसके द्वारा सर्वहारा अपने सर्वहारात्व का भी अन्त कर देता है, सारे श्रेणीगत विभेद और श्रेणी विरोध का खात्मा कर देता है; राष्ट्र के रूप में राष्ट्र का भी खात्मा कर देता है।"[२] सर्वहारा के द्वारा राष्ट्रशक्ति अधिकृत होने से राष्ट्र की निरतिशय समाप्ति हो जाती है, यह बात सत्य न होने पर भी एङ्गेल्स की यह उक्ति मूलतः सत्य है, लेनिन बहुत सुन्दर रूप से अपनी 'राष्ट्र व विप्लव' पुस्तक में इसकी व्याख्या की है। लेनिन कहते हैं कि "शोषण को कायम रखने के उद्देश्य से अर्थात् तुच्छ अल्पसंख्यक लोगों के स्वार्थ-पर उद्देश्य की पूर्ति के लिए और विपुल संख्याधिक जनगण के स्वार्थों की विरोधिता के लिए शोषक श्रेणी के राजनीतिक शासन

१ Anti Duhring 416–17.
२ Anti Duhring p. 416–17

का प्रयोजन होता है। सब प्रकार के शोषण को पूर्ण रूप से वर्जन करने के लिए अर्थात् विपुल संख्याधिक जनगण के स्वार्थ में और आधुनिक दास-मालिकों (Slave-owners) के—तुच्छ स्वल्प संख्यक जमींदार और पूँजीवादियों के—स्वार्थ की विरोधिता करने के लिए शोषित वर्ग के राजनीतिक शासन (राष्ट्र-शक्ति) का प्रयोजन होता है।"[1] पूँजीवादी शासन का उद्देश्य जनगण का शोषण और सर्वहारा शासन का उद्देश्य शोषण का अवसान है। इस अत्यन्त मौलिक भेद को भूल कर अथवा भूलने का बहाना कर बहुत से लोग यह कहने की कोशिश करते हैं कि मार्क्स की राय में ही तो राष्ट्रशक्ति एक श्रेणी के द्वारा बलपूर्वक दूसरी श्रेणी को दमन करने का हथियार है, इसलिए सर्वहारा राष्ट्र में भी तो पूँजवादियों और जमींदारी पर दमन और अत्याचार होंगे; अतः यह एक ही अत्याचार का दूसरा प्रकार मात्र है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि कार्यतः सर्वहारा के राष्ट्र में राष्ट्रशक्ति का यह स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। एंगेल्स ने इसीलिए और भी स्पष्टरूप में इस बात की व्याख्या की है। वह कहते हैं कि "श्रेणी विरोध के अन्दर संचरणशील पूर्वकालीन समाज के प्रत्येक युग में उत्पादन की बाह्य परिस्थितियों को कायम रखने के लिए राष्ट्रशक्ति (State) अर्थात् शोपक श्रेणी के एक प्रतिष्ठान का प्रयोजन था; अर्थात् प्रधानतः तत्कालीन उत्पादन प्रणाली के द्वारा निरूपित (दासता, Villeinage भूमि-दासता, मजदूरी की) अत्याचारपूर्ण दशा में शोषित श्रेणी को बलपूर्वक दबा रखने के लिए राष्ट्रशक्ति (State) की जरूरत थी। राष्ट्रशक्ति समग्र रूप में समाज के राजनियुक्त (official)

---

१. State and Revolution : Selected Works of Lenin Vol II p. 157.

बल प्रयोग के अर्थ में 'बल'—force शब्द का प्रयोग किया गया है) धात्री का काम करता है। बल स्वयम् भी अर्थनीतिक शक्ति है[१]।" और एक जगह भी मार्क्स ने कहा है कि 'अन्त में यदि श्रमिक-शासन की स्थापना करना ही है तो उपयुक्त समय पर मजदूरों को बलप्रयोग (force) का सहारा लेना पड़ेगा।"[२]

जो बुर्जोआ शासनतंत्र मानव समाज के शोषण का कारण है उस शासन-तंत्र का विनाश करना ही सर्वहारा का एकमात्र नैतिक लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वहारा को भी बल का प्रयोग करना होगा, इस विषय में मार्क्सवादी के मन में कोई सन्देह नहीं है। इसीलिए मार्क्सवादी देशकाल निरपेक्ष अहिंसा का कोई महत्व नहीं मानते। बुर्जोआ शासनतंत्र शान्तिपूर्ण उपाय से क्षमता को त्याग करेगा, यह भाववादी का कोरा स्वप्न है, अथवा बुर्जोआ श्रेणी की प्रतारणा के अलावा यह और कुछ नहीं है। थोड़ी-सी वेतन-वृद्धि के अथवा महँगाई भत्ता के लिए मजदूर जब शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने जाते हैं तो उन्हें जहाँ पर पुलिस की लाठी, सिपाहियों की गोली और जेल से उनका स्वागत किया जाता है वहाँ पर शान्तिपूर्ण उपायों से शोषकवर्ग के अवसान की कल्पना पागल का स्वप्न नहीं तो क्या ?

सुतराम् इस सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा रहनी चाहिए कि श्रेणी संग्राम के कभी भी निरुपद्रव और शान्तिपूर्ण होने की संभावना नहीं है। संगठित सर्वहारा वैप्लविक राजनैतिक दल के नेतृत्व में बलप्रयोग के द्वारा ही बुर्जोआ राष्ट्र का विनाश करेगा और इसके बाद ही सर्वहारा के अधिनायकत्व में राष्ट्र

१ Capital I p. 824 Quoted in Towards the Understanding of Karl Marx.

२. Towards the Understanding of Karl Marx p. 242.

का संचालन होगा। किन्तु बुर्जोआ श्रेणी के अधिनायकत्व का खात्मा कर, सर्वहारा के अधिनायकत्व की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ समाज तुरन्त श्रेणीहीन समाज में परिणत हो जायगा ऐसी बात नहीं है। क्योंकि समाज में प्रतिविप्लवी शक्तियों का ऐकान्तिक अवसान करना केवल राष्ट्रयंत्र पर कब्जा करके संभव नहीं है। सुदीर्घकाल तक श्रेणीविभक्त समाज के भाव व भावनाओं के द्वारा मनुष्य के मन में जो श्रेणीमूलक संस्कारों की सृष्टि हुई है उनका आमूल परिवर्तन करना किसी भी राजनीतिक घोषणा के द्वारा संभव नहीं हो सकता।

सर्वहारा के अधिनायकत्व में एक ओर से जिस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति और पूँजीवादी राष्ट्र व्यवस्था वर्जित होंगी, उसी तरह दूसरी ओर से एक नवीन समाज व्यवस्था का भी उद्भव होने लगेगा। यद्यपि सर्वहारा का राष्ट्र भी श्रेणीमूलक राष्ट्र होगा तथापि कार्यतः केवल अत्यन्त स्वल्प शोषकों का दमन किये जाने पर भी यह राष्ट्र एक हिसाब से प्रायः सर्वजनों का अर्थात् प्रायः श्रेणीहीन समाज का ही राष्ट्र हो उठेगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पूँजीवादी राष्ट्र-व्यवस्था के बाद जो राष्ट्र व्यवस्था होगी वह समाजवादी जनतन्त्र होगी। समाजवादी उत्पादन और बटवारे की पद्धति के प्रवर्तन से मानवसमाज में मौलिक परिवर्तन होने के कारण मनुष्य व्यक्तिकेन्द्रिकता को छोड़कर यथार्थ रूप में सामाजिक हो उठेगा। और अर्थनीतिक शक्ति के ऊपर मनुष्य जब पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर सकेगा तब मानव समाज पूर्णरूप से स्वाधीन और साम्यवादी हो उठेगा।

वर्तमान युग का अव्यवहित लक्ष्य सभी देशों में कभी एक नहीं हो सकता। वर्तमान में प्रायः सर्वत्र पूँजीवादी समाज

व्यवस्था के होने के कारण अधिकांश देशों का अव्यवहित लक्ष्य पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश कर समाजवादी व्यवस्था का प्रवर्तन करना होगा। अतः यहाँ पर हमलोगों के लिए सम्पूर्ण श्रेणीहीन समाज के स्वरूप के बारे में आलोचना का विशेष प्रयोजन नहीं है।

वर्तमान समय में हमलोग इतिहास के जिस पर्याय पर उपनीत हुए हैं वहाँ पर हमारी समस्या पूँजीवादी स्तर से समाजवादी स्तर में पदार्पण करने की समस्या है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सुतराम् यह भी सच है कि राजनीतिक विप्लवी दल को ही इस समस्या को मिटाने की कोशिश करनी होगी। किन्तु समाज में केवल अर्थनीतिक और राजनीतिक शक्तियाँ ही अपने-अपने क्षेत्र में काम कर रही हैं ऐसा नहीं; सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सांस्कृतिक शक्तियाँ—कला, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, परम्परागत धर्म और नैतिकता—मानव जीवन का कुछ कुछ नियंत्रण कर रही हैं, यह भी अस्वीकार्य नहीं है। अतः समाज में विप्लव लाने वाले राजनीतिक विप्लवी दलों के साथ अथवा अन्य किसी राजनीतिक दल के साथ इन सांस्कृतिक शक्तियों का सम्बन्ध रहना उचित अथवा अनुचित है, यदि उचित है तो उस सम्बन्ध का स्वरूप क्या होना चाहिए, इस विषय में भी धारणा रहना सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रियाशील मनुष्यमात्र के लिए उचित है। अतः पहले हमें देखना चाहिए कि प्राचीन समाज-विवर्तन के क्षेत्र में सांस्कृतिक विकाश किस तरह हुआ और समाज के अर्थनीतिक और राजनीतिक विवर्तन के साथ सांस्कृतिक शक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क क्या था और उनके परस्पर के ऊपर प्रभाव डालने का सामर्थ्य भी कैसा था।

१३

मनुष्य के सांस्कृतिक और सामाजिक विकास परस्पर सापेक्ष होने पर भी समाज का अर्थनीतिक विकास ही सांस्कृतिक विकास का मौलिक कारण है, यह पहले ही बताया जा चुका है और इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि भावधारा का कोई स्वतंत्र इतिहास नहीं है, केवल विभिन्न समाज का ही इतिहास है। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मानव समाज जैसा कोई एक अखण्ड समाज कहीं नहीं था, अब भी नहीं है। नाना देशों में भिन्न-भिन्न कालों में देश काल के अनुकूल प्राकृतिक और सामाजिक परिवेशों में भिन्न-भिन्न मानव समाज विकसित होते जा रहे हैं; इस लिए एक देश के मनुष्यों का सामाजिक विकास अन्य देश के मनुष्यों के सामाजिक विकास से नाना प्रकार से भिन्न होने के लिए वाध्य है। उत्पादन पद्धति का विकास सर्वत्र एक ही स्तर पर न होने के कारण, सामाजिक विकास का स्तर भी अवश्य भिन्न होता है। इसीलिए पृथिवी भिन्न-भिन्न अंशों के मानव समाज में और संस्कृति में बहुत से स्तरभेद वर्तमान है।

पर इन देशकालगत विभिन्नता और विकास के स्तर भेद के होते हुए भी हम मानव समाज के विकास में मोटे रूप में एक क्रम देख पाते हैं। एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार की उत्पत्ति' में मानव समाज के क्रमविकास की इस धारा को जिन तीन प्रधान स्तरों में विभाजित किया है वे इस प्रकार हैं;

—वन्यदशा, वर्बर दशा, और सभ्यदशा। वर्बर दशा में से ही मनुष्य सभ्यता के स्तर में प्रविष्ट होता है। यहाँ पर मानव समाज के इन विभिन्न स्तरों के विकास का विवरण देना संभव नहीं है। मनुष्य पाशविक जीवन स्तर को पार कर धीरे-धीरे मानवीय विशेषताओं को प्राप्त हुआ है और ऐसा होने के लिए उसे हजारों वर्ष पार होकर आना पड़ा है, इसमें सन्देह नहीं है। मनुष्य के दीर्घकालव्यापी उस विवर्तन का कोई इतिहास न रहने पर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उस कल्पव्यापी जीवनेतिहास के बीच से गुजरता हुआ, मनुष्य नाना भाव और संस्कारों को अपनी सत्ता में संचित कर ऐतिहासिक काल में अवतीर्ण हुआ है। इस अज्ञात प्रागैतिहासिक जीवन काल में मानव मानस का जो विकास हुआ था वह बिलकुल उपेक्षणीय नहीं है : मानव प्रकृति के अन्दर आज हम जिन सहजात प्रवृत्ति और प्रेरणाओं को, जिन अवचेतन क्रियाओं को देख पाते हैं, संभवतः इस दीर्घ प्रागैतिहासिक काल में ही वे अर्जित हुई थीं। मानवमानसमें संचित ये सब भाव आदिम मनुष्य समाज के अर्थनीतिक विकास को बहुल परिमाण में प्रभावित और नियंत्रित किया है, इस बात को तो एंगेल्स ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। उन्हें इस बात को मानना पड़ा है कि आदिम मानव समाज के सब कुछ केवल अर्थनीतिक कारणों के द्वारा ही समझा नहीं जा सकता। अतः मानवसंस्कृति के विकास की आलोचना करते समय हमें उस आदिम मानव-मानस में से अतीत की जो भावधारा प्रवाहित हो आई हैं, उसे भूलना नहीं चाहिए। क्योंकि मृत अतीत की परम्परा (tradition) जीवित के मस्तिष्क में 'भूत' (nightmare) की तरह सवार रहती है और उसे काम में न लगाकर, उसे

रूपान्तरित किये विना मनुष्य के मुक्त होने का उपाय नहीं है (कार्ल मार्क्स)।[1]

ऐतिहासिक युग में मानव समाज के क्रम विकास को हम तीन स्तरों में विभाजित कर सकते हैं। आदिम मानवसमाज में हम मनुष्यों को एक एक गोष्ठी में सम्मिलित देखते हैं: वहाँ पर उत्पादन पद्धति की अत्यन्त अपरिणत दशा के कारण समाज में श्रेणीभेद का आविर्भाव नहीं हुआ था। सामूहिक उत्पादन, सामूहिक जीवनयात्रा ही आदिम समाज का प्रधान लक्षण है। संस्कृति का प्रथम उद्भव भी इसी सामूहिक समाज में ही हुआ था। भाषा की उत्पत्ति न भी हुई हो तो भाषा के सामाजिक रूप का विकास, धर्म के रूप में मानवीय ज्ञान का प्रथम आविर्भाव और संगीत नृत्य का भी जन्म संभवतः इस अविभक्त यौथ समाज में ही हुआ था।

---

१ Eighteenth Brumaire: Selecied Works of Karl Marx Vol II p. 315.

"The tradition of all the dead generations weighs like a nightmare on the brain of the living. And just when they seem engaged in revolutionising themselves and things, in creating something entirely new, precisely in such epochs of revolutionary crisis they anxiously conjure up the spirits of the past to their service and borrow from them names, battle slogans, and costumes in order to present the new scene of world history in this timehonoured disguise and this borrowed language."

इसमें सन्देह नहीं कि उस आदिम-समाज का जीवन रहस्य-मयी प्रकृति के द्वारा ही नियंत्रित होता था। एक ओर मानवमन की अपरिणत दशा थी, दूसरी ओर विश्वप्रकृति की अज्ञात सत्ता थी; स्वभावतः ही उस दशा में मनुष्य शिशु की तरह भीत, विस्मित था, जीवनयात्रा एक अनिश्चित संग्राम था। आदिम युग के मनुष्य का ज्ञान इसी कारण विचार-शुद्ध ज्ञान नहीं था, अज्ञात रहस्य के प्रति भय और विस्मय से मिश्रित था। एक प्रकार की अनुभूति के रूप में ही तब आदिम ज्ञान का प्रथम पदक्षेप हुआ था। इसी से आदिम मानव का धर्म पुराण ही उसके ज्ञान का प्राथमिक रूप था। जिन बाहरी प्राकृतिक शक्तियों की लीला से मनुष्य भीत संत्रस्त था, वही मानवमानस में अद्भुत अतीन्द्रिय शक्तियों के रूप में प्रतिभात होने लगीं; भय-विस्मय-प्लुत मानवकल्पना ने इन शक्तियों को देवताओं में परिणत कर उनके सम्मुख आत्मसमर्पण करने को ही, आंशिक रूप में, निरापद जीवन-यात्रा का एकमात्र उपाय समझ लिया था। आदिम समाज मानस में बहुत दिनों तक रहस्यपूर्ण प्राकृतिक शक्तिपुंजों का प्रतिफलन पौराणिक देवदेवियों के रूप में विद्यमान रहने के कारण, ये विश्वास मानव-मन में गूढ़ संस्कारों में परिणत हो गये थे। परिवर्ती सामाजिक विकास ने इस पौराणिक परम्परा को अस्वीकार अथवा वर्जन नहीं कर सका। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप इन पौराणिक देव-देवियों का रूपान्तर हुआ है, बस इतना ही। आदिम शिकारी मानवगोष्ठी बाद में पशुपालक समाज में, और भी बाद में, कहीं-कहीं किसान-समाज में परिणत हुई और प्राकृतिक शक्ति के स्थान पर ऐतिहासिक, मानव-सामाजिक शक्ति का आविर्भाव होने लगा। फलस्वरूप प्राचीन साहित्य में पौराणिक देवदेवियों

का भी रूपान्तर अनिवार्य हो उठा; पहले जो देवदेवियाँ केवल प्राकृतिक शक्तियों के ही प्रतीक थीं, बाद को वे ही सामाजिक शक्तियों के प्रतीक बनकर मानव-मानस में क्रिया करने लगीं।

सामूहिक जीवन पर आधारित होने के कारण आदिम समाज के सांस्कृतिक विकास में भी सामूहिक जीवन के भाव और भावनाओं का ही प्रतिफलन हुआ था। आदिम समाज के संगीत नृत्य में इसीलिए मनुष्य के एकान्त व्यक्तिगत सत्ता का प्रतिफलन नहीं हुआ, उनमें सामूहिक जीवन की भय-भावनाओं और आशा आकांक्षाओं की प्रेरणा ही मूर्त हो उठी है।

किन्तु आदिम समाज का यह सामूहिक रूप उत्पादन पद्धति के विकास के कारण ही नष्ट हो गया। सामूहिक गोष्ठीजीवन धीरे-धीरे पारिवारिक जीवन में विभाजित होने पर भी शुरू-शुरू में एक ही गोष्ठी का सम्मिलित जीवन भी साथ ही साथ चलता रहता है। बाद को समाज में उत्पादन पद्धति के विकास से कर्म के अनुसार नाना प्रकार के श्रेणियों के उद्भव हुआ है। आदिम समाज में कर्मविभाजन के फलस्वरूप श्रेणी भेद की उत्पत्ति होने पर भी, उत्पादन के ऊपर सामूहिक अधिकार होने से श्रेणी विरोध विद्यमान नहीं था। किन्तु बाद को अर्थ-नीतिक विकास के अनिवार्य नियम से ही समाज में, मार्क्सीय परिभाषा में जिसे 'श्रेणी' कहा जाता है उसका आविर्भाव हुआ अर्थात् समाज में शोषक और शोषित, प्रभु और दास के श्रेणियों का आविर्भाव हुआ। प्रायः चार-पाँच हजार वर्षों से समाज के इस दूसरे स्तर का विकास हो चला है। मुख्यतः इस दूसरे स्तर का इतिहास ही वर्त्तमान मानवसमाज का इतिहास है। यह इतिहास इसीलिए श्रेणी-समाज का—श्रेणी विरोध और श्रेणी संघर्ष का—इतिहास है। हमारे परिचित मानवसभ्यतासंस्कृति

का इतिहास भी इसीलिए इस श्रेणी विभक्त समाज का ही इतिहास है।

इस ऐतिहासिक काल के अन्दर विभिन्न देशों में उत्पादन पद्धति के विकास के फलस्वरूप श्रेणीमूलक समाज का आविर्भाव हुआ है और मानविक सम्बन्धों में नाना परिवर्तन हुए हैं। मानव-सम्बन्धों के परिवर्तन से समय के साथ सामाजिक गठन में भी परिवर्तन हुए हैं और समाज-मानस में भी विपुल परिवर्तन हुए हैं। मानवीय ज्ञान भी धीरे धीरे रहस्यमयी प्रकृति की अज्ञेयता को दूर कर उसे मानवीय शक्ति के नियंत्रण योग्य कर दिया है। इन कारणों से मानवमानस में जो विपुल परिवर्तन हुआ है वह जैसा विस्मयजनक है वैसा ही अभावनीय है।

किन्तु परिवर्तन और विकास के अभावनीय और विस्मयजनक होने पर भी, इस श्रेणीविभक्त समाज की संस्कृति भी श्रेणीगत होने के लिए वाध्य थी। श्रेणीविभक्त समाज में राष्ट्र-शक्ति का रूपान्तर किस प्रकार होता है और यह राष्ट्रशक्ति किस तरह शोषक श्रेणी के हाथ में हथियार हो जाती है, यह पहले ही बताया जा चुका हैं। इसी प्रकार से समाज के आइन-कानून, नीति दर्शन और साहित्य आदि भी उसी शासक और शोषक सम्प्रदाय के भाव और भावनाओं को ही प्रतिफलित कर समाज मानस के नियंत्रण के हथियार हो जाते हैं, इस मौलिक सत्य को किसी तरह भूलना नहीं चाहिए।

१४

श्रेणी-विभक्त समाज का पहलारूप दास-प्रभु का समाज है जिसका एक प्रकृष्ट दृष्टान्त एथेन्स की सभ्यता है। इसी लिए इस दास-प्रभु के समाज में जिस सभ्यता संस्कृति का उद्भव हुआ, उसमें शासक सम्प्रदाय की वास्तव सत्ता का ही प्रतिफलन हुआ था। शासक सम्प्रदाय का जीवन ही तत्कालीन साहित्य में अभिव्यक्त हुआ था। इसके पश्चात् नव सामन्ततांत्रिक समाज का आविर्भाव हुआ तो साहित्य में भी हमने सामन्त श्रेणी के जीवन को ही प्रतिफलित होते देखा। यूरोप में मध्ययुग के अन्त होने के साथ ही साथ इस सामन्ती समाजव्यवस्था का भी अन्त हो जाने लगा और आधुनिक पूँजीवादी श्रेणी का—बुर्जोआ श्रेणी का—आविर्भाव हुआ। बुर्जोआ समाज में भी श्रेणीविरोध के अन्त होने का कोई प्रयास नहीं दिखाई दिया, केवल पुराने श्रेणी विन्यास में एक विपुल परिवर्तन हुआ: इससे नवीन श्रेणी समावेश और नये ढंग के संग्राम का अविर्भाव हुआ। अवश्य इसमं कोई भी सन्देह नहीं है कि इस बुर्जोआ समाज के आविर्भाव से मानव समाज में एक अभूतपूर्व विप्लव का सूत्रपात हुआ है।

भारतवर्ष में सामन्ती समाज-व्यवस्था अत्यन्त दीर्घकाल तक स्थायी हुई है। लेकिन इस सुदीर्घ काल के अन्दर भारतीय समाज में श्रेणी विरोध के फलस्वरूप नाना परिवर्तन हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। आज भी भारतीय समाजविवर्तन का वह इतिहास विशदरूप से लिखा नहीं गया और न विशेष आलो-

चना ही हुई। इसीलिए भारतीय समाज और संस्कृति के उत्थान पतन का विचित्र इतिहास आज भी हम लोगों के लिए अज्ञात प्राय है, ऐसा कहा जा सकता है। आशा है कि निकट भविष्य में इस देश के ऐतिहासिक मार्क्सीय दृष्टि से भारतीय सामाजिक विकास का अध्ययन करेंगे और यहाँ की सांस्कृतिक विकासधारा को हमारे लिए बोधगम्य करेंगे।

आधुनिक समय में, अंग्रेजी शासन के सूत्रपात होने के बाद से, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आविर्भाव और बाहरी दुनियाँ के साथ संयोग स्थापित होने से भारतवर्ष में सामन्ती समाज-व्यवस्था प्रथम धीरे-धीरे और वर्तमान समय में अत्यन्त द्रुत टूट जाने लगी है और बुर्जोआ पूंजीवादी समाजव्यवस्था प्रतिष्ठित हो रही है। इससे यूरोप की तरह हमारे देश में भी इस पूंजीवादी समाजव्यवस्था का अनिवार्य प्रतिफलन हमारे भाव जगत् में—हमारे आईन-कानून, सामाजिक रीतिनीति आचार व्यवहार में, साहित्य कला में—होने लगा है। देश भेद से कुछ भिन्न होने पर भी इस बुर्जोआ विप्लव का रूप सामान्यतः सर्वत्र एक ही प्रकार का है।

मार्क्स-एंगेल्स ने 'कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो' में इस बुर्जोआ विप्लव का जो सुन्दर और विशद विवरण दिया है प्रत्येक को उसे पढ़ना चाहिए। एक ओर से बुर्जोआ विप्लव ने सामन्ती समाज व्यवस्था को और उसके जीवनादर्श को नष्ट किया है और इतने दिन जो श्रेणी संग्राम नाना प्रकार के नैतिक और धार्मिक भावनाओं की ओट में छिप कर काम कर रहा था, उसके अमानुषिक शोषण के स्वरूप को सम्पूर्ण उन्मुक्त कर दिवालोक में रख दिया है। उत्पादन के साधन और तज्जनित उत्पादन-सम्बन्धों का क्रमागत परिवर्तन बुर्जोआ समाज का

विशेष लक्षण है। उत्पादन के इन क्रमागत वैप्लविक परिवर्तनों के कारण बुर्जोआ समाज के श्रेणी विरोध ने समाज को अन्त में दो स्पष्टतः विरोधी खेमों में विभाजित कर दिया है—एक में बुर्जोआ श्रेणी है और दूसरे में शोषित सर्वहारा। दीर्घ ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप समाज का अन्तर्निहित द्वन्द्व इस अन्तिम अध्याय में—उत्कटतम श्रेणीविरोध और श्रेणीसंग्राम के स्तर में आ पहुँचा है।

यह बुर्जोआ विप्लव का युग विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति का भी युग है इसलिए शताब्दियों से पृथ्वी के मानव समाज जिस विच्छिन्नता में रहकर अपनी-अपनी भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों के अन्दर विवर्तित हो चला था, आज फिर उस विच्छिन्नता में रहना उनके लिए असंभव हो उठा है। विश्व के सबसे पिछड़े हुए मानव समाज भी आज सबसे अग्रगामी समाज के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के लिए बाध्य हो रहा है। इससे संस्कृति के क्षेत्र में भी एक अद्भुत सम्मिलन सम्मिश्रण अनिवार्य हो उठा है। केवल सामन्ती समाज नहीं, पृथ्वी के नाना स्थानों में जो बर्बर समाज हैं उनके अन्दर भी एक अकल्पनीय परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है। पृथ्वी के सर्वत्र यातायात और संयोग-व्यवस्था में उन्नति होने के कारण बुर्जोआ-सभ्यता का जीवनादर्श दुनियाँ के सभी समाजों को एक ही ओर खींच ले जा रहा है। विश्व की बहु विचित्र संस्कृतिधाराएँ मिलित मिश्रित हो रही हैं; इतना ही नहीं, वर्तमान अर्थनीतिक संगठन के फलस्वरूप सारी प्राचीन संस्कृति धाराओं का अनिवार्य रूपान्तर भी हो रहा है। यह बुर्जोआ विप्लव की सृष्टि का पहलू और प्रागतिक भूमिका है; खंडित मानवसमाज और सभ्यता संस्कृतियों के सम्मिलन

से एक विस्मयजनक विश्व मानवसमाज और विश्व-सभ्यता की सूचना भी इसी बुर्जोआ विप्लव की ही द्वान्द्विक प्रेरणा का प्रकाश है। इस अग्रगति की बात को विस्मृत होने से हम बुर्जोआ विप्लव की प्रगतिशील भूमिका की ही उपेक्षा करेंगे।

१५

बुर्जोश्रा सभ्यता संस्कृति की विश्व-मानविकता (Universal Humanism) के दावे के सम्बन्ध में यहाँ पर आलोचना करना आवश्यक है।

श्रेणीविभक्त समाज के आविर्भाव के साथ ही साथ समाज की विभिन्न श्रेणियों की जीवन यात्रा में विभेद विरोध के आविर्भाव से मनुष्य की भावना और अनुभूतियों में भी नाना प्रकार के विरोधों का आविर्भाव हुआ है और मानव संस्कृति के क्षेत्र में भी नाना विरोधी धाराओं का सूत्रपात हुआ है। श्रेणीगत प्रभुत्व के प्रतिष्ठित होने के साथ ही साथ समाज में प्रभुश्रेणी के द्वारा समर्थित भावधारा—उसके आइन-कानून नीति-धर्म-दर्शन साहित्य—की ही प्रधानता हुई है, यह भी सत्य है, किन्तु अन्य श्रेणियों के भाव और भावना भी समाज-जीवन में व्यक्त हुए हैं, इसे भी इनकार नहीं किया जा सकता। इसके अलावा समाज के प्रभु अथवा शासक श्रेणी को भी अपने जीवनादर्श को सर्वमानविक कह कर अन्ततः प्रचार करना पड़ा है; शोषित व अत्याचारित श्रेणी के सम्मुख शोपक श्रेणी को अपने शोषक रूप को यथासंभव छिपाकर सर्वमानव के कल्याण-कारी रूप में आविर्भूत होना पड़ा है। अपने श्रेणीगत स्वार्थ को सुप्रतिष्ठित रखने की गरज से ही वाध्य होकर प्रभुश्रेणी की अन्य श्रेणियों के स्वार्थों की भी थोड़ी-सी रक्षा करने की कोशिश करनी पड़ी है। इसीलिए राष्ट्र (State) धर्म, नीति ये सभी

समग्र समाज के कल्याण में नियोजित हैं ऐसा कहना पड़ा है और कर्म में भी सर्वमानवीय अधिकारों को कुछ स्थान छोड़ देना पड़ा है।

सामन्ततान्त्रिक समाज व्यवस्था को नष्ट करना बुर्जोआ सामाजिक विकास के लिए अनिवार्य हो जाने के कारण बुर्जोआ अर्थनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार अबाध व्यापार का दावा किया गया है, उसी प्रकार बुर्जोआ समाज व्यवस्था में व्यक्ति-स्वतंत्रता की भी घोषणा करनी पड़ी है। बुर्जोआ समाज-व्यवस्था श्रेणी विभक्त समाज की ही विकसित अवस्था है और शोषण का भी विकटतर अध्याय है और इस शोषण को संभव करने के लिए ही व्यक्तिगत अधिकार-समता का भी दावा किया गया है यह भी सही है, पर भावधारा के क्षेत्र में इस वाणी की एक महान् वैप्लविक परिणति भी संभव हुई है। बुर्जोआ समाज में कार्यतः शोषित सर्वहारा की स्वाधीनता खंडित होने पर भी, बुर्जोआ श्रेणी नीति के रूप में इस स्वाधीनता के अधिकार को कभी अस्वीकार नहीं कर सकी। इसीलिए साहित्य दर्शन में व्यक्तिवाद की महिमा घोषित हुई है। यद्यपि बुर्जोआ साहित्य में बुर्जोआ जीवनादर्श का ही प्रतिफलन हुआ है, तथापि उसके अन्दर से भी मनुष्य की स्वाधीन, स्वच्छन्द जीवनयात्रा की कामना को भी व्यक्त करने का अवसर देना पड़ा है। बुर्जोआ अर्थनीतिक व्यवस्था को जिस प्रकार अपने अन्तर्द्वन्द्व की प्रेरणा से सर्वहारा को संगठित होने के लिए अवसर देने में बाध्य होना पड़ा है, उसी तरह बुर्जोआ संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व भी उसे अनिवार्य वेग से समग्र मानव की स्वाधीन संस्कृति की ओर लिए जा रहा है।

और एक बात। समाज कितना भी श्रेणीविभक्त हो और किसी श्रेणी विशेष के प्राधान्य के कारण उस श्रेणी के भाव

और भावना कितना भी प्रतिफलित हों, उन भाव-भावनाओं में ऐसे बहुत से भाव भावनाएँ स्वतः अभिव्यक्त होने लगते हैं जिन्हें हम एक प्रकार से सर्वमानविक भाव और भावना कह सकते हैं। इसी तरह अतीत के प्रत्येक युग के साहित्य और संस्कृति में एक सर्वमानव-सामान्य भाव भावनाओं की धारा भी बहती चली आयी है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और यही कारण है कि विशेष श्रेणी समाज के आविर्भाव और लोप के साथ-साथ उन समाजों के साहित्य और संस्कृतियाँ बिलकुल अप्रचलित और अग्राह्य नहीं हो गयीं। इसीलिए प्राचीनतम साहित्य का आवेदन हमारे मन में आज भी रसानुभूति को जाग्रत करता है। सभी मनुष्यों की जो अन्तर्निहित कामना है, स्वाधीन, स्वच्छन्द, पीड़नमुक्त, आनन्दमय आत्म-विकास की जो आकृति है, वह श्रेणी-समाज में श्रेणीविशेष की कामना से आच्छन्न तो हुई, परन्तु सर्वमानविक आकृति के प्रकाश कुछ विकृत और वाधाग्रस्त होने पर भी, वह बिलकुल नष्ट नहीं हुआ। श्रेणी विभाजित समाज के खंडित, विकृत सांस्कृतिक विकास के अन्दर भी एक 'शाश्वत मानविकता' की ओर प्रगति का प्रयास विद्यमान रहा है और इस मानविकता के आधार पर ही संस्कृतियों का मूल्यांकन करना होगा। यह स्मरण रखना चाहिए[१]।

---

१ Modern Quarterly Miscellany No. 1 में Dr. John Lewis ने 'What is Marxist Criticism ?' निबन्ध में लिखा है: "It (Marxism) is the revelation again......of the broadest possible human values and situations holding a significance far beyond class or period. Marx again and again stresses this pure humanity, distorted and

ऐतिहासिक विकास का यह दूसरा स्तर व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर प्रतिष्ठित श्रेणी-विभक्त समाज का स्तर है। इस स्तर में उत्पादन पद्धति में बहुत से परिवर्तन के कारण क्रमशः दास-प्रभुसमाज, सामन्ती समाज और सबसे आखिर में पूँजीवादी समाज का आविर्भाव हुआ है। पूँजीवाद समाज निरन्तर विप्लवों के बीच में से संकटों की सृष्टि करता हुआ अपने विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है। इससे आधुनिक काल के समाज-विन्यास में एक अकल्पनीय उथल-पुथल हो गया है और आधुनिक युग के भाव जगत् में भी विपुल परिवर्तन होता जा रहा है।

यह सामाजिक परिवर्तन मूलतः उत्पादन व्यवस्था के, अतः अर्थनीतिक व्यवस्था जनित परिवर्तन के द्वारा संघटित होने पर भी यह परिवर्तन मानव-निरपेक्ष प्राकृतिक शक्ति के द्वारा संघटित परिवर्तन नहीं है, मार्क्स ने यह स्पष्टरूप से बतलाया है। मनुष्य ही इतिहास का निर्माता है और मनुष्य अपने भाव और भावनाओं के द्वारा प्रेरित होकर ही कर्म में प्रवृत्त होता है और समाज को बदलता है। अवश्य भाव और भावनाएँ एकाएक आसमान से उतर नहीं आतीं, समाज की विशेष अर्थ-

---

crippled by capitalism as by every form of exploitation, which socialism alone can finally emancipate and set on the road to sulfulfilment; and Russian criticism finds in Shakespeare······also this eternal humanism which runs through all art in all ages, however much its appearance is strictly conditioned by the forms and problems of each age." p 5-6.

नीतिक दशाओं में मनुष्य विशेष प्रकार से भावित होता है और अर्थनीतिक दशा के आनुकूल्य से ही विशेष भाव व भावना,. आदर्श व कल्पना वास्तव में रूपायित होते हैं। और इसीलिए मार्क्सीय दृष्टिकोण समाज-विप्लव में मनुष्य के नियंतृत्व को पूर्णरूप से स्वीकार करता है।

प्राकृतिक शक्तियों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा मनुष्य जिस प्रकार प्राकृतिक शक्ति को इच्छानुरूप फल प्राप्त करने में सक्षम करता है उसी तरह सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों के सम्यक् ज्ञान भी मनुष्य को इच्छानुरूप समाज निर्माण करने में सक्षम कर सकता है, मार्क्सीय वैप्लविक दर्शन का यही प्रधान सिद्धान्त है।

१६

अब तक समाज मानवीय इच्छा के घात-प्रतिघात से रूपान्तरित होता जा रहा है, यह सच है. परन्तु समाज के रूपान्तर में मनुष्य का विशेष कोई सचेतन नियन्त्रण रहा, ऐसा नहीं कहा जा सकता बहुत से लोगों की नाना विचित्र इच्छाओं का सम्मिलित फल होने पर भी किसी भी व्यक्ति का नियंतृत्व न रहने से इतिहास भी एक मानव निरपेक्ष प्राकृतिक शक्ति का फल जैसा मालूम होता है। लेकिन वस्तुतः यह बात सही नहीं है। मनुष्य के ऐतिहासिक और अर्थनीतिक शक्तियों के स्वरूप और क्रियापद्धति के सम्बन्ध में अज्ञ रहने के कारण ही ऐतिहासिक घटनावली मानवीय नियंत्रण के अधीन नहीं थीं। किन्तु आज मनुष्य विकास के जिस अध्याय में पहुँचा है वहाँ पर उसके लिए अब केवल ऐतिहासिक घटना प्रवाह के क्रीड़नक अथवा दर्शक होकर रहना संभव नहीं है। आज सामाजिक विकास अपने तीसरे स्तर पर उन्नीत होने जा रहा है; यहाँ पर मनुष्य सचेतन कर्मी के रूप में समाज को निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर संचालित करेगा और उत्पादन शक्ति और उत्पादन-पद्धति में जो वर्गीय विरोध है उसका खातमा कर श्रेणी-हीन समाज की प्रतिष्ठा करेगा और मानव-संस्कृति को श्रेणीगत विकृतियों से मुक्त कर उसके यथार्थ मानविक स्वरूप में प्रतिष्ठित करेगा।

मानव समाज के इस तृतीय स्तर के विकास के बारे में एंगेल्स का कहना है कि "समाज के द्वारा उत्पादन पद्धति के

ऊपर अधिकार से पण्य उत्पादन के और उसी के साथ उत्पादक के ऊपर उत्पादन के प्रभुत्व का अवसान हो जाता है। सामाजिक उत्पादन की अराजकता (anarchy) के स्थान को योजना को आधार पर सचेतन संगठन ग्रहण करता है। व्यक्तिगत अस्तित्व के लिए संग्राम का अन्त हो जाता है और यहीं पर मनुष्य एक प्रकार से जन्तु जगत् से सम्पूर्ण विच्छिन्न हो जाता है, जान्तव जीवन की दशाओं को पीछे छोड़ कर वह वास्तविक मानवीय स्थिति में प्रविष्ट होता है। मनुष्य के परिवेश के रूप में जिन जीवन दशाओं ने इतने दिनों तक उसके ऊपर प्रभुत्व किया है, वे अब मनुष्य के प्रभुत्व और नियंत्रण के अधीन हो जाती हैं और जिस परिमाण में वह अपने समाजीकरण के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करता है, उसी परिमाण में और उसी लिए मनुष्य अब सर्वप्रथम बार प्रकृति का यथार्थ सचेतन स्वामी हो बैठता है। उसके अपनी सामाजिक क्रियाओं के जिन नियमों ने, वाह्य प्राकृतिक नियमों की तरह, इतने दिनों तक उसके ऊपर प्रभुत्व किया है, उन्हें पूर्ण रूप से समझ कर अब मनुष्य कर्मों में प्रयोग करेगा और उसीलिए मनुष्य उनके ऊपर प्रभुत्व स्थापित करेगा। मनुष्यों का अपना समाजीकरण इतने दिन उनके विरुद्ध इतिहास और प्रकृति के द्वारा जबरदस्ती से लादा हुआ व्यापार था, किन्तु अब वह मनुष्य का स्वेच्छा प्रणोदित काम हो जायगा। जिन वाह्य वस्तुगत (Objective) शक्तियों ने इतने दिन इतिहास के ऊपर प्रभुत्व किया है, अब वे मनुष्य के नियंत्रण के अधीन हो जायेंगी। यहीं से मनुष्य सम्पूर्ण सचे-तन रूप में स्वयम् ही अपने इतिहास की रचना करेगा; यहाँ से ही मनुष्य के द्वारा क्रियान्वित सामाजिक कारण मुख्यतः और क्रमशः और भी अधिक परिमाण में मनुष्य के इच्छानुसार फल

देने लगेंगे। आवश्यकता (Necessity) के राज्य से स्वाधीनता (Freedom) के राज्य में यह मानव जाति का उल्लंघन (Leap) है।"[१]

मानव जाति का यह अभूतपूर्व वैप्लविक परिवर्तन मुख्यतः समाज के अर्थनीतिक संगठन में विप्लव के द्वारा होगा, इस बात को स्वीकार करते हुए भी इस विप्लव में मनुष्य की स्वकीय चेष्टा की बात को किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य की चिन्ता धारा में परिवर्तन के द्वारा ही उसकी कर्मधारा में भी परिवर्तन होता है और इस कर्मधारा के परिवर्तन से ही समाज का रूपान्तर होता है। इसीलिए मानव समाज के, मुख्यतः सर्वहारा के वैप्लविक नेतृत्व के लिए मार्क्स एक सचेतन मननशील और सक्रिय वैप्लविक दल की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। केवल राजनीतिक और अर्थनीतिक आन्दोलन के द्वारा समाज के शोषित दलित जनगण को उनके निदारुण दासत्व और उसके कारण के सम्बन्ध में सचेतन करना ही इस वैप्लविक दल का एक मात्र दायित्व नहीं है। समाज में परम्परागत रूप में प्रचलित भाव, भावना, संस्कार, दार्शनिक नैतिक और धार्मिक विचार और आचार का प्रचंड प्रभाव है और वे समाज को विप्लव की ओर जाने से रोकते हैं, किसी भी मार्क्सवादी को इसे भूलना नहीं चाहिए। इसीलिए मानव-समाज के मानस क्षेत्र में वैप्लविक प्रेरणा को जाग्रत करने की जिम्मेवारी भी कम नहीं है। कोई भी यथार्थ मार्क्सवादी इस दायित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता।

किन्तु वैप्लविक प्रयास के दायित्व को स्वीकार करने पर भी, वैप्लविक क्रिया पद्धति सभी क्षेत्रों में एक नहीं हो सकती।

१ Anti Duhring P 421.

श्रमविभाग के फलस्वरूप समाज के भिन्न-भिन्न क्रियाक्षेत्र कुछ अंश में अन्यनिरपेक्ष और स्वाधीन रूप से ही काम करते हैं और इसीलिए दर्शन विज्ञान साहित्य इत्यादि क्षेत्र भी कुछ अन्य-निरपेक्ष होकर अपने- क्षेत्र के निर्दिष्ट प्रकृति का अनुसरण करते हैं। धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य आदि प्रत्येक क्षेत्र के ऊपर अर्थनीतिक प्रभाव के नियंत्रण के बावजूद इनमें से प्रत्येक को अपनी-अपनी परम्परा की रक्षा करते हुए रूपान्तर की ओर अग्रसर होना पड़ता है।[1]

---

१ Engels to Conrad Schmidt, London, Oct. 27, 1890. Selected Works of Karl Marx Vol I p. 383-88

१७

सामाजिक विकास के साथ साहित्यिक विकास का सम्पर्क क्या है और वर्तमान साहित्यिक क्षेत्र में मार्क्सवादी वैप्लविक साहित्यिकों का दायित्व कितना है, यह समझने के पहले भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास के सम्बन्ध में सामान्य आलोचना करना आवश्यक है। साहित्य के आदिमतम विकास का इतिहास भाषा की उत्पत्ति और विकास का ही नामान्तर मात्र है। मानव इतिहास के आदिम स्तर में भी हम मनुष्य के एकान्त निस्संग और एकक अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। इसीलिए प्रारंभ काल से ही भाषा का सामाजिक स्वरूप अर्थात् एकाधिक मनुष्य के पारस्परिक भावों के आदान-प्रदान की वाहकता स्वीकृत है। पर क्या उस समय भी केवल अपने मनोभाव को दूसरे के सम्मुख व्यक्त करने के उद्देश्य से ही भाषा की उत्पत्ति हुई थी? क्या प्रत्येक मनुष्य के मन में उसके चारों ओर के विश्व प्रकृति की नाना प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रियाओं ने विचित्र भय विस्मय आनन्द की अनुभूतियों को जाग्रत कर उसके कंठ में विचित्र भाषा को जाग्रत नहीं किया था? क्या केवल व्यवहारिक जीवन को तकाजे से ही, अन्य मनुष्यों के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से ही, मनुष्य ने भाषा-सृष्टि के स्वाभाविक प्रेरणा को अनुभव किया था?

ऐसा मालूम होता है कि प्रथमत: मानव मन के ऊपर बाह्य प्रकृति की प्रति-क्रियाओं के कारण जिन भावावेगों की सृष्टि हुई थी उनसे ही मानव-कंठ में भाषा की उत्पत्ति हुई थी।

भावावेगों के भौतिक स्पन्दन से ही भाषा की उत्पत्ति होने के कारण भाषा का आदिम रूप छन्दोमय है; भाषा के क्रमविकास में इसीलिए प्रथम पद्य का आविर्भाव हुआ था। अवश्य आदिम समाज में मानव समाज में मानव गोष्ठी की सामूहिक जीवन यात्रा के फलस्वरूप बहुत से लोगों के मन में एक ही समय में बाह्यप्रकृति की प्रतिक्रिया भी प्रायः एक ही प्रकार होने के कारण भावावेग भी एकान्त व्यक्तिगत रूप को धारण न कर सामूहिक रूप में व्यक्त होने लगे थे, ऐसी कल्पना करना असंगत नहीं है। इसी प्रकार से मानव-मानस में आवेग और अनुभूतियाँ व्यक्तिगत आवेग और अनुभूतियों की सीमा में बद्ध न रहकर बहुजनों के साधारण आवेग और अनुभूतियों में परिणत हुई थीं। इसी तरह भावावेग के क्षेत्र में सहानुभूति और समवेदना की सृष्टि हुई थी ऐसा मालूम होता है।

अवश्य, एक ओर से भाषा जिस प्रकार मानव-मानस की भावावेगमूलक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतीक हो उठने लगी, उसी प्रकार दूसरी ओर से बाह्य प्रकृति के नाना विचित्र अभिव्यक्तियों का प्रतीक भी बनने लगी। शब्द के इंगित एक ओर से मानस भावावेग को व्यक्त करने लगा और दूसरी ओर से वही फिर बाह्य वास्तव सत्ता को भी व्यक्त करने लगा। इसी से भाषा एक ओर से जिस प्रकार मानव-मन के भावानुभूतियों का प्रतिफलन है, उसी तरह दूसरी ओर से इस वास्तव विश्व-व्यापार का भी प्रतिफलन है। कॉडवेल के शब्दों में कहा जा सकता है कि "भाषा बाह्यसत्ता और आन्तर-सत्ता—तथ्य और अनुभूति-इन दोनों को व्यक्त करती है"[१]।

---

१ Illusion and Reality (Indian Edition 1947) p. 205

बाह्य वस्तुओं के प्रतीक होने के कारण भाषा उत्तरोत्तर सामाजिक प्रयोजन को सिद्ध करने का माध्यम हो उठेगी, यह बहुत ही स्वाभाविक है। किन्तु भाषा के उत्पत्तिकाल से ही भाषा ने जो मनुष्य की अनुभूतियों को प्रतिफलित किया है वह केवल बाह्य वास्तव प्रयोजन को मिटाने की प्रेरणा से किया गया है, संभवतः यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है। अस्तु, बाह्य विश्व-प्रकृति की प्रतिक्रिया मानव-मानस में केवल भाव व भावनाओं के रूप में प्रतिफलित हुई है ऐसी बात नहीं है, उसने मनुष्य को कर्मों में भी प्रवृत किया है और उन कर्म प्रेरणाओं के फलस्वरूप मनुष्य बाह्यजगत् को परिवर्तित भी किया है। इन कर्मों के द्वारा केवल बाह्य जगत् में ही परिवर्तन हुआ है ऐसा नहीं बल्कि मानव-मानस में भी रूपान्तर हुआ है। इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप मानव-मानस में ज्ञान और अनुभूति का विकास हुआ है और भाषा का भी उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है।

देखा जाता है कि भाषा के प्राथमिक विकास में मनुष्य के वास्तव विश्व-सम्बन्धी ज्ञान और उसके मानस भाव और अनुभूतियाँ मिश्रित और अविभक्त रूप में ही अभिव्यक्त हुए थे। मानो उस समय द्रष्टा और दृश्य का, भोक्ता और भोग्य का, विषयी (Subject) और विषय (object) का जो पार्थक्य है वह स्पष्ट नहीं हुआ था। मानस अनुभूति और वास्तव ज्ञान का ऐकान्तिक विच्छेद तब तक स्पष्ट नहीं हो पाया था। किन्तु आदिम अविभक्त श्रेणीहीन समाज जिस प्रकार धीरे धीरे श्रेणीविभक्त समाज में परिणत हुआ है, उसी तरह भाषा के क्षेत्र में भी ज्ञान और अनुभूति भी परस्पर विच्छिन्न रूप में स्पष्ट हो उठे हैं। आदिम भाषा में मानवज्ञान और अनुभूति—अर्थात् विज्ञान और धर्म एक ही अविभक्त, अविच्छिन्न रूप में प्रकटित

हुए थे। इस अविच्छिन्नता से ही बाद को काव्य, साहित्य, संगीत, गणित, विज्ञान आदि स्वतंत्र रूप में विकसित हो उठे हैं, इसमें सन्देह नहीं है।[1] इस सिलसिले में कॉडवेल कहते हैं, "भाषा का जन्म हुआ। अनुभूति, आदिम सहानुभूति, इशारा और प्ररोचना से उत्पन्न मनुष्य की सहज सरल चीत्कार ध्वनियाँ नाना प्रकार के नमनीय (plastic) रूप धारण करने लायक हो उठीं : एक ही चीत्कारध्वनि अब एक निश्चित बाह्य वास्तवता का सूचक और स के सम्बन्ध में एक निश्चित भाव (judgement) का सूचक हो गयी। ऐसी एक वस्तु का जन्म हुआ जो एक ही साथ संगीत, विज्ञान और गणित थी और जो इसकी बुनियादी अर्थनीतिक प्रक्रिया के विकास के कारण समय पर अलग हो जायेंगे, संगीत और गणित इन दो प्रान्त-विन्दुओं (poles) के बीच-वाली भाषा और कल्पना (Phantasy) की सभी प्रकार की गतिशीलता को उत्पन्न करेंगे।"[2]

---

१. Illusion and Reality (Indian Edition 1947) p 207

२. Illusion and Reality p 2o7

१८

मानव-भाषा का प्राथमिक विकास अनिवार्य रूप से ही भावावेग के छन्द से आन्दोलित है इसका कारण यह है कि आदिम मनुष्य के मन में ज्ञान मात्र ही दूसरी ओर से उसके व्यक्तिगत भावावेग और अनुभूति का नामान्तर मात्र था। आदिम मनुष्य की क्रियाओं की प्रेरणा वाह्य प्रकृति की प्रतिक्रिया से उद्भूत होने पर भी, उनसे मानव-मानस में नाना विचित्र आवेग-अनुभूतियों का आलोड़न हुआ है और वही भाषा में भावावेग के छन्द से छन्दित हो उठा है। आदिम भाषा में मानव ज्ञान इसीलिए गीत के आवेग स्पन्दन से स्पन्दित है। भाषा की यह आवेग मूलकता ही साहित्य कला का मौलिक लक्षण है।

शब्द मात्र ही, जन्म काल से, मनुष्य के रागात्मिक जीवन के, उसके आवेग अनुभूतियों के प्रतीक के रूप में व्यवहृत होने के कारण शब्द केवल वाह्य जगत् की वस्तु और घटनाओं का शाब्दिक रूप मात्र नहीं हुआ, वल्कि वह मनुष्य के भावजीवन का, उसकी अस्पष्ट कल्पना और भावावेग का वाहन भी होता आया है। भाषा ने केवल उसके ज्ञान को ही व्यक्त नहीं किया, उसके आनन्द भय विस्मय क्रोध घृणा को भी व्यक्त किया है। यह कहना आवश्यक है कि जभी किसी वास्तव परिस्थिति का उद्भव हुआ है, तभी मनुष्य उस परिस्थिति के अनुसार कर्म में प्रवृत्त हुआ है और उन कर्मों से उसके मन में नाना प्रकार के

विचित्र भावावेगों की भी सृष्टि हुई है और उसकी भाषा में भी वे प्रगट हुए हैं। विशेष परिस्थितियां के अन्त हो जाने पर उन भाव और अनुभूतियों की निवृत्ति होने पर भी मानव मानस में उन भाव और अनुभूतियों की छाप बिलकुल मिट नहीं जाती। वास्तव परिस्थिति का पुनरावृत्ति न होने पर भी ये रागात्मिक अनुभवों से मनुष्य के मन में एक काल्पनिक जगत् की सृष्टि होती है: यह जगत् मनुष्य की भाव कल्पना का जगत् है—दिवास्वप्न (Phantasy) का जगत् है। यह भाव कल्पना का जगत् भी एकान्त व्यक्तिगत जगत् नहीं है; एक ही सामाजिक व्यवस्था और परम्परा में परिवर्धित मनुष्यों के मानस जगत् में व्यापक सम्पर्क विद्यमान है, आधुनिक काल के मनोविश्लेपण—(Psychoanalysis)—ने विशेष रूप से हमारी दृष्टि को उस ओर आकर्षित किया है। मनुष्य के कला और साहित्य सृष्टि के मूल में यह भावकल्पना का जगत् विद्यमान है; रागात्मिक अनुभवों का यह जगत् ही समस्त कला का उत्स है।

इस विषय को और भी स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। मान लीजिये कि आदिम मानव किसी भयानक जंगली हिंस्र पशु के शिकार करने में प्रवृत्त हुए हैं। इस भयंकर परिस्थिति में मनुष्य जब वास्तवता के साथ संग्राम में प्रवृत्त हुए तो वे (आदिम समाज में एकक संग्राम कल्पनीय नहीं है, अनेकों के सम्मिलित अभियान ही कल्पनीय है) कर्म के द्वारा जिस प्रकार इस संकट से बचने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार साथ ही उनके मनोजगत् में एक प्रबल अनुभूतियों का, भय विस्मय आनन्द क्रोध का भी आलोड़न होता है, ऐसा अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है और यह भी अनुमान किया जा सकता है

कि शिकार के समय भी इन अनुभूतियों का कुछ उन लोगों की भाषा में भी व्यक्त होता था। शिकार अभियान के पश्चात् जब वे अपने गाँव में लौट आते थे, सम्भव है कि दो एक व्यक्ति को मृत्यु के हाथ छोड़ आना भी पड़ता था। फिर भी विजय के आनन्द से उन लोगों को भोजन-सभा एक उत्सव में परिणत होती थी। उस समय संकट के अन्त हो जाने पर, नृत्य और संगीत का आविर्भाव होता था। मानस कल्पना में शिकार-अभियान एक काल्पनिक रूप धारण करता था और अपने संगीत और नृत्य के द्वारा वे उसे रूपायित करते थे। अर्थात् एक वास्तविक अनुभव को नवीन रूप में वे फिर अनुभव करते थे। यह जो विगत अभिज्ञता को फिर से नवीन रूप में अनुभव करने की, 'आस्वादन' करने की प्रेरणा है, यही कला की प्रेरणा है। परन्तु इस प्रेरणा का मौलिक कारण क्या है?

जीवनधारण के प्रयोजन से ही मनुष्य को प्रकृति के साथ, विश्व के प्राकृतिक और मानविक नाना प्रकार शक्तियों के साथ, संघर्ष में प्रवृत्त होना पड़ता है और इन कर्मों के साथ ही मनुष्य के मन में नाना प्रकार के भाव, भावना और अनुभूतियों की भी उत्पत्ति होती है। एक ओर से, विशेष कर्म अथवा आच-रण के फलस्वरूप सुख-दुःख भय विस्मय आदि अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है, दूसरी ओर से इन्हीं अनुभूतियों की संचित स्मृति मनुष्य को भविष्य में विशेष-परिस्थितियों में विशेष कर्म में प्रेरित भी करती है। इसीलिये बाह्य जीवन-यात्रा के कर्म के उपलक्ष में मनुष्य के मन में जिस प्रकार नाना अनु-भूतियों का जागरण होता है, उसी प्रकार यही अनुभूतियाँ फिर भविष्य में उसकी जीवन-यात्रा को नियन्त्रित भी करती हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी से मानव समाज के विकसित स्तर में भी

मनुष्य के कर्म जीवन के ऊपर उसके रागात्मिक जीवन का बहुत बड़ा प्रभाव देखा जाता है।

कर्म जीवन के सिलसिले में मनुष्य को जिस रागात्मिक अभिज्ञता प्राप्त होती है, वही उसके अगले कर्म जीवन को अनुरञ्जित और नियन्त्रित करती है इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु इस रागात्मिक अभिज्ञता का एक दूसरा पहलू भी है। पहले ही बताया गया है कि शिकार-अभियान के अन्त में शिकारी मानव-गोष्ठी अपने शिकार के रागात्मिक अनुभव को नृत्य और संगीत में रूपायित करती है और इस रूपायन के सहारे वे अपने रागात्मिक अभिज्ञता से एक विचित्र आनन्द भी उपभोग करती है। यह जो रागात्मिक अभिज्ञता का काल्पनिक पुनरभिनय, इसका यथार्थ तत्व ही समस्त कला और साहित्य का मूल तत्व मालूम होता है।

१८

कर्म और भावावेग अथवा अनुभूति की पारस्परिक प्रतिक्रिया साधारण रूप में पशु-पक्षियों के जीवन में भी देखी जाती है। सबसे पहले कर्म-प्रेरणा के मूल में अवश्य ही अन्ध जैव प्रेरणा—जीवन धारण और वंशवृद्धि की प्रेरणा—काम करती थी, किन्तु नवीन कर्म प्रयासों से भी नाना विचित्र भावावेग और अनुभूतियों का जन्म हुआ है इसमें सन्देह नहीं है। बाह्य प्रकृति के परिवेशों ने—आँधी, वृष्टि, भूचाल, बाढ़, प्रकाश और अन्धकार के रहस्यपूर्ण आविर्भाव ने—आदिम मानव को एक ओर से नाना प्रकार के प्रयासों में प्रवृत्त किया है और इन्हीं प्रयासों के कारण उसके रक्त प्रवाह में, निश्वास-प्रश्वास में नवीन छन्दों की सृष्टि हुई है और उस के मन में विचित्र भावावेगों का आलोड़न उत्पन्न हुआ है। यदि मनुष्य में बोलने की शक्ति न भी होती तथापि ये भावावेग उस की मानस चेतना में संस्कार के रूप मे संचित रह कर उस के भविष्य कर्म प्रयासों को विशिष्टता प्रदान करते हुये नयी दिशाओं में प्रेरित करते ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा।

परन्तु मानव-इतिहास में एक और भी विचित्र बात हुई—वह है मानव कंठ में भाषा का आविर्भाव। अवश्य यथार्थ में मानवेतर जीवों में भी भाषा का आविर्भाव नहीं हुआ ऐसा कहना सत्य नहीं है। पशु-पक्षियों के कंठ में भी अत्यन्त अपरिणत रूप में भाषा का आविर्भाव हुआ और उस भाषा ने भाव की

अभिव्यक्ति में सहायता भी की है। परन्तु वह भाषा मनन अर्थात् विचारों की अभिव्यक्ति की भाषा उतना नहीं जितना की भावावेग अर्थात् अनुराग, भय, क्रोध आदि को व्यक्त करने की है। अवश्य यह भी कहा जा सकता है कि इतर प्राणियों में मनन और अनुभूति का विकास अधिक न होने के कारण भाषा भी अत्यन्त अपरिणत रह गई है। मनुष्यों में भी, विशेष कर, आदिम मानव गोष्ठी में भी भाषा इस मिले-जुले रूप में ही विकसित हुई थी। भाषा प्रथमतः जैव प्रयोजनों को मिटाने के उद्देश्य से ही मनन और अनुभूतियों को व्यक्त करने में लगी थी और गोष्ठीबद्ध समाज में भाषा के द्वारा पारस्परिक भाव और अनुभूतिओं के आदान-प्रदान से सामाजिक चेतना विकासित हुई थी।

मनन और अनुभूति के सम्मिलत क्रिया से यह विश्व-जगत् प्रत्येक व्यक्ति मानस में एक अद्भुत भाव-कल्पना के जगत् की सृष्टि करता है। यदि भाषा का आविर्भाव न भी होता, मानव-मानस में इस जगत् की सृष्टि में विशेष कोई वाधा पड़ती ऐसा मालूम नहीं होता। किन्तु भाषा सृष्टि के कारण व्यक्ति मानस की इस भाव कल्पना जगत् ने भाषा के माध्यम से समाज-मानस में एक अत्यन्त विशाल और विचित्र जगत् की सृष्टि की है।

यह भावकल्पना का जगत् सचमुच मानव-चेतना की एक आश्चर्य-जनक सृष्टि है। वाह्यजगत् की नाना शक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया से ही मानव मानस में इस कल्प-जगत् (World of phantasy) की सृष्टि होती है, इसीलिए एक ही मानव-गोष्ठी के भिन्न-भिन्न मनुष्यों की चेतना में उद्भूत कल्प-जगतों में पारस्परिक भिन्नता के होते हुए भी एक प्रकार का

सादृश्य भी रहता है और भाषा के द्वारा आदान-प्रदान के फलस्वरूप समाज मानस के भावकल्पना के जगत् भी विस्तृत होता जाता है। इसी प्रकार से व्यक्तिगत मनन और आवेग से उत्पन्न भाषा भी बहुजनों के मनन और आवेग को व्यक्त करने की भाषा में परिणत होती जाती है।

इस वास्तव जगत् में रहने वाला मनुष्य केवल इस जगत से ही तृप्त न रह सका; उसने अपने मानस में एक स्वप्नजगत् का, एक भावकल्पना के जगत् का निर्माण किया और कलाकृति के द्वारा—संगीत नृत्य काव्य नाटक आदि की सहायता से—इस मायामय 'अवास्तव' जगत् को भी वास्तव जैसा बना लिया और उस जगत् में भी विचरने लगा। मानव इतिहास में यह एक अभिनव व्यापार है। वास्तव जीवन के कर्म व्यवहार में भी मनुष्य के रागात्मिक जीवन का प्रकाश अनिवार्य है. किन्तु तिस पर भी मनुष्य ने एक स्वतंत्र स्वप्नजगत् का, काल्पनिक जगत का, निर्माण क्यों किया इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कहाँ तक संभव है, कहा नहीं जा सकता।

आदिम मानव समाज में व्यक्तिगत जीवन धारा के साथ सामूहिक जीवनधारा का विशेष पार्थक्य न रहने के कारण उस समय के व्यक्तिगत रागात्मिक जीवन (affective life) सामूहिक जीवन में ही व्यक्त होता था और इसीलिए उस समय के रागात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति जिस प्रकार सामूहिक कर्म व्यवहार में होती थी, उसी प्रकार सामूहिक शिल्परूप में भी—सामूहिक संगीत और नृत्य में भी—हुई थी। फ्रायेड (Freud) के स्वप्नतत्व के साथ जिन लोगों का परिचय है वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि वास्तव जगत् के कठोर बन्धन के कारण ही मनुष्य स्वप्नजगत् के मुक्त विहार

में प्रवृत्त होता है। फ्रायड का यह सिद्धान्त यदि आंशिक रूप में भी सत्य हो तो यह मानना पड़ेगा कि शिल्पसृष्टि के मूल में भी यह प्रेरणा विद्यमान है।[1]

---

१. जीवन ओ साहित्य (बंगला)—महेन्द्रचन्द्र राय ('स्वप्न ओ साहित्य' निबन्ध देखिए)।

रागात्मिक जीवन और कलासृष्टि के सम्बन्ध में क्रिस्टोफर कॉडवेल ने अपनी गंभीर और मौलिक विचारपूर्ण 'माया व वास्तव' (Illusion and Reality) पुस्तक में जो विस्तृत आलोचना की है वह विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ पर हम उनके कुछ मन्तव्यों के बारे में साधारण रूप से आलोचना करेंगे।

भाषा का आदिम प्रकाश कविता में अर्थात् छन्द में हुआ। छन्दोवद्ध भाषा मनुष्य के भावावेग के प्रवल स्पन्दन की ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। आदिम समाज की कविता में गोष्ठीवद्ध मनुष्य की 'सामूहिक अनुभूति' (Collective emotion) का ही परिचय मिलता है। कॉडवेल की राय में इस सामूहिक अनुभूति की उत्पत्ति गोष्ठी के अर्थनीतिक जीवन के प्रयोजन से ही हुई थी।

आपका कहना है कि "बाघ, शत्रु, वृष्टि, भूचाल की आसन्नता सहजात प्रेरणा की तरह (instinctively) एक नियंत्रित और सामूहिक प्रतिक्रिया (Conditioned and collective response) जाग्रत करेगी। सभी लोग विपन्न और भयव्याकुल होंगे। इन परिस्थितियों में इसी लिए सामूहिक अनुभूति को जाग्रत करने की आवश्यकता नहीं है। गोष्ठी (tribe) निःशब्द ही भयार्त हिरन के झुंड की तरह क्रियाशील हो उठती है।"

"किन्तु जब दृश्यमान अथवा स्पष्टरूप से निर्देश करने लायक कोई कारण नहीं रहता, लेकिन संभावना के रूप में जब कोई कारण विद्यमान रहता है, तो सामाजिक तरीके पर इस प्रकार के साधनों का प्रयोजन होता है। इसी तरह गोष्ठी के अर्थनीतिक जीवन में से कविता का उद्भव होता है और वास्तवता के अन्दर से मायामय जगत् (illusion) की उत्पत्ति होती है।"

'पशु-जीवन से स्वतन्त्र अत्यन्त साधारण गोष्ठीजीवन के लिए ऐसे प्रयासों का प्रयोजन होता है जो सहजात प्रवृत्तिमूलक (Instiuctive) नहीं है, परन्तु जो जैव प्रयोजनों के अतिरिक्त (Non-biolgical) अर्थ नीतिक लक्ष्य के द्वारा प्रेरित होते हैं, जैसा कि फसल काटने की क्रिया है। इसीलिए एक प्रकार के सामाजिक कौशल (social mechanism) के द्वारा सहजात प्रवृत्तियों को फसल काटने के काम में लगाना पड़ता है।...यथार्थ विषय, वास्तविक लक्ष्य—फसल का काटना—उत्सव में एक काल्पनिक विषय हो जाता है। यथार्थ विपय (अर्थात् फसल) उस समय वहाँ वर्तमान नहीं है। काल्पनिक वस्तु ही फसल) उस समय वहाँ पर कल्पना में विराजमान है। नृत्य की प्रबलता, संगीत की चीत्कार-ध्वनि, पद्य के सम्मोहक छन्द मनुष्य को उस वर्तमान वास्तवता से अलग कर देता है जिसमें आरोपित फसल का कोई अस्तित्व नहीं है, और उस मायामय जगत् में उसका प्रक्षेप (projection) करता है जहाँ पर यह चीजें (फसल) काल्पनिक रूप में विद्यमान हैं। यह जगत् अधिकतर वास्तव हो उठता है और जब संगीत विलीन हो जाता है, उस समय भी अनुत्पन्न फसल उसे अधिक सत्य प्रतीत होता है और उसे पाने के लिए जिस मेहनत की जरूरत होती है उस ओर उसे प्रेरित कर कर्म की ओर ले जाता है।"

"इसी प्रकार से नृत्य, अनुष्ठानिक क्रिया और संगीत के साथ कविता, गोष्ठी की सहजात प्रवृत्तिशक्ति के प्रचंड सुइच बोर्ड (Switch board) का काम करती है और इस शक्ति को उन सामूहिक कर्मधारा में संचालित करती है जिनके तात्कालिक कारण अथवा तृप्ति दृष्टि-गोचर नहीं होती और जो कर्म स्वतः सहजात प्रेरणा के द्वारा निर्धारित नहीं होता।"

"फसल काटने की बुनियाद को तैयार करने की जरूरत है। युद्ध-अभियान में यात्रा करने की आवश्यकता है।...इन सामूहिक कर्तव्यों के सम्पादन के लिए मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति-मूलक शक्तियों (Instinctive energies) को नियोग करने का प्रयोजन है, लेकिन कोई भी सहजात प्रवृत्ति उसे उन कर्तव्यों की प्रेरणा नहीं देती।...मनुष्य की सहजात प्रवृत्तियों को कारखानों में लगाने की, हितकर और अर्थनीतिक कर्मों में उसके भावावेगों को संहत कर संचालित करने की जरूरत है। अर्थनीतिक होने के कारण ही अर्थात् सहजात प्रेरणामूलक न होने से ही इन सहजात प्रेरणाओं को संचालित करना पड़ता है। इसीलिए जो साधन सहजात प्रेरणाओं को संचालित करता है वह मूलतः अर्थनीतिक है।"

कॉडवेल की राय में "श्रमगत प्रयोजन से उत्पन्न होने के कारण और कर्म को मधुर करने के कारण गोष्ठी-उत्सव में कला के द्वारा संगठित (organised) सामूहिक भावावेग फिर श्रम को हल्का करने के उद्देश्य से नियोजित होता है।"[1]

---

१ Illusion and Reality : Birth of Poetry : Section 4

२१

जब भी मनुष्य किसी कर्म में लिप्त होता है तो साथ ही उसके मन में कुछ भावावेगों की सृष्टि होती है, इसमें आवश्यक और अनावश्यक का प्रश्न उठता ही नहीं। मनुष्य की क्रियात्मक (Conative) और रागात्मक (Affotive) वृत्तियाँ अविच्छेद्य सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं; आलोचना की सुविधा के लिए इन्हें स्वतंत्र रूप में देखा जा सकता है, लेकिन वस्तुतः वास्तव जीवन में ये कभी विच्छिन्न नहीं रह सकतीं। काडवेल ने कहा है कि बाघ, शत्रु, वृष्टि. भूकम्प आदि की तरह प्रत्यक्ष किसी प्राकृतिक घटना के आविर्भाव से मनुष्य सहज प्रेरणा से स्वत: सक्रिय हो उठता है, वहाँ पर अनुभूति को जाग्रत करने का प्रयोजन नहीं होता, केवल अप्रत्यक्ष किसी लक्ष्य की ओर कर्म प्रेरणा को जाग्रत करने के लिए ही अनुभूति अथवा भावावेग को जाग्रत करने की जरूरत होती है।

कॉडवेल की भावावेग सम्बन्धी इस व्याख्या को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उन्होंने मानवीय कर्मों को दो स्वतंत्र भागों में बाँटा है। उनकी राय में कुछ कर्मों के साथ सहजात प्रेरणा (Instinct) का अनिवार्य सम्बन्ध है। दृष्टान्त स्वरूप उन्होंने बाघ, शत्रु, वृष्टि, भूचाल आदि के आसन्न होने पर मनुष्य के आचरण का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त भी मनुष्य को ऐसे कर्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है, जिनके साथ मनुष्य की सहजात प्रेरणा का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। दृष्टान्तस्वरूप

उन्होंने फसल पैदा करने को लिया है। फसल पैदा करने का अन्तिम लक्ष्य खाने की वस्तु है। खाने की वस्तु के साथ मनुष्य की सहजात प्रेरणा का—क्षुधा का—घनिष्ठ अनिवार्य सम्बन्ध रहने पर भी फसल उत्पन्न करने के लिए जिन कर्मों का प्रयोजन होता है उनके साथ मनुष्य की किसी भी सहजात प्रेरणा का सम्बन्ध न रहने के कारण वह अनायास इन कर्मों में प्रवृत्त होना नहीं चाहता। इसीलिए, कॉडवेल की राय में, कृत्रिम तरीके से फसल काटने के उत्सव अनुष्ठान में नृत्य संगीत इत्यादि के द्वारा आदिम मनुष्य अपने मन में एक ऐसी भावावेग की उत्तेजना को उत्पन्न करना चाहता है जो उसे सफल उत्पादन के काम में प्रेरित कर सकती है।

काडवेल ने मानवीय कर्मों को जो दो प्रकारों में विभाजित किया है वह कुछ अंशों में सत्य है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु नृत्य संगीत आदि का जो प्रयोजनात्मक (Utili tarian) कारण दिखलाया गया है उसे यथार्थ कह कर मान लेना कठिन है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि एक मात्र क्षुधा और प्रजनन प्रवृत्ति को ही आदिम सहजात जैव प्रेरणा के रूप में माना जा सकता है। इनके अलावा और जिन सहजात क्रियात्मक और रागात्मक प्रेरणाओं को हम आज मनुष्य के अन्दर देखते हैं वे सभी दीर्घ युगों के अभ्यास के फल हैं। जीने की गरज ने ही मनुष्य को नाना विचित्र कर्म प्रयासों में प्रवृत्त किया है और युग-युग के कर्म व्यवहार के फलस्वरूप नाना प्रकार की क्रियात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियों ने सहजात प्रेरणा का रूप धारण कर लिया है। ये सहजात प्रेरणाएँ आदिम मनुष्य के जन्मकाल से ही हैं ऐसी बात नहीं है; मानव-चेतना के विकास के साथ-साथ मनुष्य नाना विचित्र कर्मों में प्रवृत्त हुआ है और दीर्घ-

कालीन पुनरावृत्ति के फलस्वरूप कुछ कर्मप्रवृत्तियाँ और उनके साथ सम्बन्धित भावावेग उसके लिए स्वाभाविक हो गये हैं। इसी प्रकार से सहजात प्रेरणाओं का विचित्र विकास हुआ है और भविष्य में भी होगा, ऐसा माना जा सकता है।

हजारों वर्ष मनुष्य को नाना प्रकार की प्राकृतिक बाधा विपत्तियों का सामना करना पड़ा है और उसीके फलस्वरूप उसका मन उन घटनाओं के सामने स्वाभाविक रूप से ही स्वतः सक्रिय होने में अभ्यस्त हो गया है और उन घटनाओं के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में कुछ भावावेग और अनुभूति के संस्कार भी उसके मन में संचित होते आये हैं। मानव-समाज में कृषि कर्म का जो आविर्भाव हुआ है वह भी हजारों वर्षों की बात है। जीवन के प्रयोजन से ही मनुष्य सामूहिक रूप में कृषिकर्म में प्रवृत्त हुआ। संभव है कि पहले केवल क्षुधा की मौलिक प्रेरणा ने ही उसे इस काम में प्रवृत्त किया था। किन्तु फसल उत्पन्न होने के बाद उस फसल के सुखद दृश्य ने मनुष्य के हृदय को एक अभूतपूर्व सार्थकता के आनन्द से भर दिया था ऐसा अनुमान करना अनुचित नहीं है। इसी आनन्द से ही उस समय गोष्ठी समाज में फसल काटने के उत्सव का जन्म हुआ था और इस आनन्द की स्मृति ने ही उसे भविष्य में फिर फसल उत्पादन के काम में प्रेरित किया, यह भी अनस्वीकार्य नहीं है। किन्तु इससे यह स्वीकार करना कठिन है कि फसल काटने के उत्सव का जन्म भावी फसल उत्पन्न करने के काम में मनुष्य को प्रेरित करने के लिए ही हुआ था।

सुतराम् उत्सवसृष्टि की—व्यापक दृष्टि से कहा जाय तो, कलासृष्टि की—मौलिक प्रेरणा अर्थनीतिक नहीं है। शिकार हो अथवा फसल बोना हो, जीवन धारण के मौलिक तकाजे से ही

मनुष्य कर्मप्रवृत्त हुआ है। इन कर्मप्रवृत्तियों ने दीर्घकालीन पुनरावृत्ति के कारण संस्कारगत सहजात प्रेरणा का रूप धारण कर लिया है। सहजात प्रवृत्ति हो चाहे न हो, जीवनधारण के अनिवार्य प्रयोजन से ही मनुष्य को कर्मप्रवृत्त होना पड़ा है और आज भी पड़ रहा है। किन्तु कर्म के साथ ही मनुष्य के मन में भावावेग की भी सृष्टि हुई है और इन भावावेगों ने मनुष्य के शरीर और मन को आन्दोलित उत्तेजित किया है। परवर्ती कर्मों में इन भावावेगों के संस्कार और स्मृति से मनुष्य प्रेरित हुआ है और इसी प्रकार की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा ही, मानव मन में नाना प्रकार की अनुभूतियाँ स्थायी भाव में परिणत हो गयी हैं ऐसा सोचा जा सकता है। बाद को अतीत के रागात्मक अनुभूतियों का पुनः पुनः आस्वादन करने के उद्देश्य से मनुष्य ने उन्हें स्वप्न में, कल्पना में रूपायित किया है और इस रूपायन-प्रवृत्ति से ही कला का—नृत्य संगीत चित्र-काव्य का—जन्म हुआ है। अतः कलासृष्टि की मौलिक प्रेरणा को अर्थनीतिक प्रेरणा कहने का कोई संगत कारण नहीं है, यद्यपि यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि इन कलाकृतियों से मनुष्य को आगामी सामाजिक और अर्थनीतिक कर्म-प्रयासों में पर्याप्त प्रेरणा मिलती है।

११

वास्तव जगत की वास्तविक परिस्थितियों के अन्दर प्राकृतिक और अर्थनीतिक शक्तियों के क्रियाप्रतिक्रिया से मनुष्य परिवर्तित होता चला जा रहा है और अपने चारों ओर के जगत् को भी परिवर्तित करता जा रहा है। किन्तु साथ ही मानव-मानस के क्रमविकास के फलस्वरूप मानव-मानस में एक आश्चर्यजनक भाव कल्पना का जगत् भी बनता जा रहा है। मानव-इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना है। पहले व्यक्तिमानस में उत्पन्न होने पर भी इस भावकल्पना के जगत् ने इस (world of phantasy ने) क्रमशः इस वाह्य जगत् की तरह समाज-मानस में एक साधारण अन्तर्जगत् को जन्म दिया है। वाह्य-जगत् के प्रतिफलन अथवा प्रतिक्रिया से ही मानव-मानस में नाना भाव, अनुभूति और कल्पना का उद्भव होने पर भी इस मानस जगत् के सब कुछ वाह्य जगत् का ही प्रतिफलन है ऐसा कहना सम्भव नहीं है। मूलतः मानव-मानस की उत्पत्ति वस्तु जगत् से ही हुई है परन्तु वस्तु जगत् का ही एक हिस्सा होने पर भी, मानव-मानस में वाह्य जड़जगत् से बिलकुल भिन्न गुणगत विशेषता आ जाने के कारण मानस-जगत् के साथ वस्तु जगत् का, एक ओर से, कुछ भी सजातीयता नहीं है। इसीलिए मानस-जगत् का जो उपादान है वह तथाकथित वाह्यजगत् के उपादान से सम्पूर्ण भिन्न प्रकृति के हैं। भाव, कल्पना, अनुभूति इन उपादानों से ही मनुष्य का कल्पजगत् बना हुआ है। मनुष्य का

धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य, साहित्य, कला ये सभी कल्प-जगत् की वस्तुएँ हैं ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए हमें भाव कल्पना के जगत् के साथ वास्तव जगत् का क्या सम्बन्ध है साफ-साफ समझ लेना चाहिए।

कॉडवेल ने कहा है कि 'भाषा वाह्य सत्ता और आन्तरिक सत्ता—तथ्य और अनुभूति दोनों को व्यक्त करती है। यहाँ पर हम इस कथन के तात्पर्य को स्पष्ट रूप से समझने की कोशिश करेंगे और इस स्पष्टीकरण से ही वास्तव और भाव-कल्पना के जगत् के पारस्परिक सम्पर्क भी स्पष्ट हो जायगा। भाषा के अन्दर एक ओर से तो वाह्य जगत् का प्रतिफलन होता है और दूसरी ओर से व्यक्ति मानस के आन्तरिक भाव आवेग व अनुभूतियों का प्रतिफलन होता है ऐसा कहा गया है; वस्तुतः इस उक्ति को बिलकुल आक्षरिक रूप से यथार्थ (Accurate) नहीं कहा जा सकता; 'प्रतिफलन' शब्द का प्रयोग ही उसका कारण है। वास्तव में भाषा कोई दर्पण नहीं है कि उसमें वाह्य जगत् और भाव अनुभूतियों का प्रतिफलन होगा वस्तुतः भाषा के अन्दर वाह्य जगत् और मानस जगत् की जो अभिव्यक्ति होती है उसे 'प्रतिफलन' (Reflection) न कह कर 'प्रतीकीकरण' (Symbolisation) कहना ज्यादा विज्ञानसम्मत मालूम होता है।

जब वाह्य-जगत् व्यक्ति चेतना में प्रत्यक्ष हो उठता है, उस समय उसी के साथ ही व्यक्ति मानस में भावना (thought, idea, concept) के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है; संभवतः पशु मानस में इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं होती, अगर होती भी है, तो वह अत्यन्त अस्फुट रूप में होती है। वाह्य जगत् के प्रत्यक्ष होने के साथ ही साथ जैव प्रयोजन से ही

मनुष्य उस प्रत्यक्ष को स्वकीय आवेग अनुभूतियों के द्वारा अनुरंजित कर लेता है अर्थात् नाना प्रकार की प्रवृत्ति और अनुभूतियाँ उसके शरीर और मन में विचित्र स्पन्दन को जाग्रत करती हैं। भाषा मनुष्य के इन मानस भाव और अनुभूतियों का प्रतीकी अभिव्यक्ति है। इसीलिए भाषा मूलतः मानस सत्ता की ही अभिव्यक्ति है।

परन्तु भावना वाह्यजगत् का ही प्रतीक है इसलिए भाषा का भी एक ओर से वाह्यजगत् के साथ अच्छेद्य और निविड़ सम्बन्ध है। भावना के द्वारा, मनन के द्वारा मनुष्य ने वाह्य जगत् के ऊपर अपना अधिकार फैलाया है, आधुनिक जगत् में वैज्ञानिक प्रगति की ओर देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। भाषा के द्वारा ही व्यक्तिगत भावना आदि सामूहिकरूप में मानव समाज के साधारण सम्पद् में परिणत हुई है, इस बात को भी यहाँ पर विस्तार से कहने की जरूरत नहीं है। वाह्य-जगत् की नाना क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप मानवमानस में जिन आवेग अनुभूतियों की उत्पत्ति होती है, वे वाह्यजगत का परिचय न देकर प्रधानतः व्यक्तिसत्ता के स्वरूप को ही प्रकट करती हैं। भाषा व्यक्ति के इन आवेग अनुभूतियों को भी व्यक्त करती है। मनुष्य के रागात्मिक जीवन की अभिव्यक्ति भाषा में साहित्य संगीत आदि के रूप में होती है। इसीलिए भाषा में हम मानव-मानस के दो प्रकार की अभिव्यक्ति को विज्ञान और साहित्य में प्राप्त होते हैं। यहाँ पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य के रागात्मिक जीवन की अभि-व्यक्ति केवल भाषा में ही नहीं होती, चित्र, मूर्तिकला और नृत्य आदि कलामात्र ही मनुष्य के रागात्मिक जीवन की अभि-व्यक्ति है।

मनुष्य की वास्तव-सत्ता विदेही सत्ता नहीं है। इसलिए इस सत्ता का विकास और उपलब्धि वास्तव जगत के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। यही कारण है कि वास्तव जगत् के ऊपर कर्तृत्व और नियंत्रण ही मानवसत्ता के सम्यक् विकास का एकमात्र पथ है। मनन के द्वारा मनुष्य ने अपने मानस में एक नियम का जगत्, विज्ञान का जगत् बनाया है: इस विज्ञान के जगत् में मनुष्य प्रकृति का खिलौना नहीं है यहाँ पर वह प्रकृति के अधीश्वर होने की दुस्साध्य साधना में लगा हुआ है। जितना ही वह अपने मनन के जगत् को सुसंगठित बना पा रहा है, उतना ही इस मानस जगत् के जरिये वह वास्तव जगत् के नियंत्रण में अधिकतर सफलता को प्राप्त हो रहा है। दर्शन विज्ञान के रास्ते से वह प्रकृति के ऊपर स्वामित्व प्राप्त करने के प्रयास में प्रवृत्त हुआ है। मनुष्य प्रकृति के दासत्व से मुक्त एक स्वाधीन जीवन के लिए संग्राम कर रहा है।

क्रियात्मक जीवन में मनुष्य ने ज्ञान के अभाव से पहले अपने को असहाय अनुभव किया है और इसी असहायता ने उसे विज्ञान के पथ पर चलने के लिए प्रेरित किया है और दिनोदिन मनुष्य बाह्य प्रकृति के ऊपर अपना अधिकार जमाने में सक्षम हुआ है। रागात्मिक जीवन में भी अपने को अप्रत्याशित सुख-दुःखों में फँसते देखकर मुक्ति के लिए मनुष्य चंचल हुआ है। वास्तव जीवन के सुख-दुःख कभी भी मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं थे, आज भी नहीं हैं। वास्तव जीवन के कठोर संग्राम में लिप्त होने के साथ ही आदिम मानव को नाना प्रकार के अनिवार्य दुःखों का सामना करना पड़ा है। कभी-कभी वास्तव कर्मप्रयास के द्वारा दुख से छुटकारा पाने में सफल होने पर भी बहुत दफे दुःखों के आघात से बचना

असंभव भी हुआ है। इसके अलावा कभी-कभी संग्राम में सफल होकर आनन्द प्राप्त होने पर भी थोड़े ही समय बाद फिर उस आनन्द से वंचित भी होना पड़ा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रागात्मिक जीवन के क्षेत्र में भी मनुष्य अपने को अदृश्य रहस्यमयी शक्ति के ही नियंत्रण के अधीन अनुभव किया है। इसीलिए रागात्मिक जीवन के क्षेत्र में भी मनुष्य ने आत्मनियंत्रण के अधिकार को चाहा। इस वास्तव जगत् के नाना प्रयासों के अन्दर ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति और आनन्द के साधनों पर अबाध अधिकार प्राप्ति की निरन्तर कामना प्रकट हो रही है। इसीलिए धर्म और कला में मनुष्य के रागात्मिक जीवन को स्वच्छन्द मुक्त करने का प्रयास व्यक्त हो उठा है।[1]

---

१. कॉडवेल ने भी एक जगह कहा है, "Art is the expression of man's freedom in the world of feeling as science is the expression of man's freedom in the world of sensory perception. because both are conscious of the necessities of their worlds and can change them—art, the world of inner reality, science, the world of phenomenon or outer reality".

—Illusion and Reality (World and I).

२३

धर्म और कला में मनुष्य के रागात्मिक जीवन की अभि-व्यक्ति के प्रयास पर विशेष मनन करना चाहिये ।

आदिम मानवसमाज में मनुष्य के मन में उसकी एकान्त असहायता की अनुभूति से धर्मबोध का आविर्भाव हुआ था। वाह्य प्राकृतिक शक्ति के दुर्ज्ञेय होने के कारण, प्राकृतिक शक्ति के सामने मनुष्य नितान्त असहाय था। ये भयानक और दुर्ज्ञेय प्राकृतिक शक्तियाँ ही उस समय मानव-मानस में अतीन्द्रिय शक्ति के रूप में, देव-देवियों के रूप में, प्रतिफलित हुई थीं। वाह्य प्रकृति की उन (प्रतीयमान) रब्वामखयाली और भयानक शक्तियों ने उस समय के मानव- मन में विचित्र भय विस्मय और असहायता की अनुभूतियों को जाग्रत किया था और वास्तव जीवन की इन अनुभूतियों से ही उसके भाव कल्पना के जगत् में देव-देवियों का जन्म हुआ था इस विषय में विज्ञानी पुराण शास्त्रियों (Mythologists) में मतभेद नहीं है। समय के गुजरने के साथ-साथ प्राकृतिक शक्तियों की तरह सामाजिक शक्तियों के सामने भी मनुष्य के असहाय हो जाने के कारण प्राकृतिक देव-देवियाँ अब इन सामाजिक शक्तियों के प्रति-निधित्व करने लगीं। इसीलिए एंगेल्स कहते हैं कि "मनुष्य के दैनन्दिन जीवन जिन वाह्य शक्तियों के द्वारा नियंत्रित है, मानव-मानस में उनके अद्भुत प्रतिफलन के सिवा धर्म और कुछ भी नहीं है; इस प्रतिफलन में पार्थिव शक्तियाँ अतीन्द्रिय शक्तियों

के रूप धारण कर लेती हैं।...किन्तु थोड़े ही समय बाद प्राकृतिक शक्तियों के साथ ही साथ सामाजिक शक्तियाँ भी सक्रिय हो उठने लगती हैं; ये शक्तियाँ भी मनुष्य को उतना ही बाहरी (Extraneous) और शुरू-शुरू में उतना ही अबोध्य मालूम होती हैं और प्राकृतिक शक्तियों की तरह ही वे एक ही प्रकार के (प्रतीय मान) अलंघनीयता (necessity=आवश्यिकता) के साथ उस के ऊपर प्रभुत्व करती है। ये सब काल्पनिक व्यक्तित्वारोप (personification) पहले केवल प्रकृतिक रहस्यपूर्ण शक्तियों को प्रतिफलित करने पर भी, अब सामाजिक गुणों को (attributes) धारण करती हैं और ऐतिहासिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने लगती हैं। क्रमविवर्तन के और भी अगले स्तर में असंख्य देवताओं के सारे प्राकृतिक और सामाजिक गुण एक सर्वशक्तिमान देवता के ऊपर आरोपित हुए। यह देवता भी निर्विशेष विमूर्त (abstract) मनुष्य का प्रतिबिम्ब मात्र है........जब तक मनुष्य इस शक्ति के अधीन रहेंगे तब तक उनके ऊपर प्रभुत्व करनेवाली बाह्य प्राकृतिक और सामाजिक शक्ति पुंजों के साथ मानविक सम्बन्ध का रागात्मिक रूप, धर्म का रहना संभव है। किन्तु हमने एकाधिक बार यह देखा है कि वर्तमान बुर्जोआ (धनतांत्रिक) समाज में मनुष्यों ने स्वयम् उत्पादन के जिन साधनों को बनाया है वे बाह्यशक्तियों की तरह ही उनका नियंत्रण कर रहे हैं। सुतराम् प्रतिफलनात्मक धार्मिक क्रिया (religious reflex action) के वास्तविक आधार ही रह गया है और उसके साथ धर्मरूपी (मानस प्रतिबिम्ब भी।" (Anti Duhring)...अतः एंगेल्स की राय में जिस दिन मानव समाज उत्पादन-साधनों के दासत्व से मुक्त हो जायगा अर्थात् उत्पादन के ऊपर जिस दिन मनुष्य

अपने कर्तृत्व को प्रति ष्ठित कर सकेगा, जिस दिन वह यह समझ लेगा कि वही यथार्थरूप से अपने भाग्य का नियंता है, उसी दिन धर्म के रूप में प्रतिबिम्बित वाह्यशक्ति भी लुप्त हो जायगी और साथ ही वाह्य नियामक शक्ति के तिरोभाव के साथ-साथ धर्म भी तिरोहित हो जायगा।

अतः हम देख रहे हैं कि जहाँ कहीं प्राकृति और सामाजिक शक्तियों के सम्मुख मनुष्य अपने को असहाय पाया है वहीं पर देव-देवियों की सृष्टि कर, उनके साथ काल्पनिक सम्बन्ध स्थापित कर, उसने उस असहायता और दुर्ज्ञेयता के दुस्सह बन्धन से अपने को मुक्त करने की चेष्टा की है।

कला में भी मनुष्य के रागात्मिक जीवन को स्वच्छन्द करने का प्रयास परिस्फुट हो उठा है। अवश्य, वास्तव जीवन के अन्दर नाना कर्म प्रयासों के द्वारा प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों के साथ यथार्थ सम्बन्ध स्थापित कर ही मनुष्य अपने को सार्थक करने की चेष्टा करता है। किन्तु उसका रागात्मिक जीवन जब वास्तव जीवन में नाना बाधाओं से व्याहत होता है, तभी मनुष्य एक विचित्र उपाय से उस रागात्मिक जीवन की माँगों को पूरा करने की कोशिश करता है। इसी प्रयास से ही आदिम मानव के धर्म विश्वास, उसके अद्भुत मंत्र-तंत्र, और ऐन्द्रजालिक क्रियाकांड की उत्पत्ति हुई है। किन्तु केवल धर्म में ही यह प्रयास अभिव्यक्त हुआ है ऐसा नहीं। वास्तव संसार में बाधाप्राप्त रागात्मिक जीवन तृप्ति की खोज में मनुष्य को स्वप्नजगत की ओर ले गया है और यही स्वप्न, एक दूसरे रूप में, मनुष्य के कला-कृतियों में अभिव्यक्त हुआ है।

वास्तव जगत में बहुत कोशिश के बाद जब मनुष्य को सफलता मिलती है, कोई भी कर्म जब अपने यथार्थ लक्ष्य को

प्राप्त होता है, तब मनुष्य परितृप्त और आनन्दित होता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कोई भी सुख अथवा परितृप्ति जीवन में स्थायीरूप में नहीं रह सकती; सम्भवतः किसी भी सुख को भी पूर्णरूप से पाना पनुष्य के लिए संभव भी नहीं है : रागात्मिक जीवन में एक प्रकार की अतृप्ति रह ही जाती है। यही अतृप्ति मनुष्य को स्वप्न जगत् की ओर, भाव कल्पना की मायापुरी की ओर ले जाती है अथवा उसके निर्माण में उसे प्रेरित करती है। केवल दुःखशोक के अथवा वंचना के आघात से ही मनुष्य स्वप्नजगत् की ओर यात्रा नहीं करता, आनन्द की स्मृति भी उसे स्वप्नसृष्टि की ओर प्रेरित करती है।

स्वप्न एकान्त रूप में मनुष्य के अवचेतन (subconscious) मन की सृष्टि है और कला साहित्य अनेकांश में उसके सचेतन मन की सृष्टि है। अवश्य इस सचेतन में भी अवचेतन मन का आवागमन होता है। फिर भी स्वप्न और कला में अन्तर भी बहुत है। स्वप्न मानो अत्यन्त अपरिणत आदिम मानव के असंबद्ध प्रलाप की तरह है। अवश्य इस प्रलाप के जरिये ही, इस असंलग्नता के छद्म आवरण में रहकर ही अवचेतन मन वास्तव जगत की बाधाओं को अतिक्रम कर एक प्रकार काल्पनिक तृप्ति प्राप्त करने की कोशिश करता है किन्तु जाग्रत चेतना में यह स्वप्न मनुष्य को किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता।

लेकिन कला सभ्यता के क्रमविकास के साथ-साथ अधिकतर सचेतन मन के साथ सम्बन्ध करती गई है। इसीलिए कलासृष्टि के द्वारा मनुष्य जिस जगत् की सृष्टि करता है वह वास्तव जगत् की तरह ही सुसंगत है। भेद इतना ही है कि वास्तव जगत् में मनुष्य स्वयम् भी असहाय है, परिस्थितियों के अधीन है; और

कला के जगत् में वह मुक्त है, स्वराट् है। वास्तव जगत् में मनुष्य घटनावली के द्वारा नियंत्रित होता है, परन्तु कलाजगत् में मनुष्य स्वयम् घटना का नियंता है। वास्तव जगत् में प्रकृति ही चरम नियंत्रणकारिणी है, अन्त में प्रकृति के सम्मुख आत्म-समर्पण के बिना उसका और कोई रास्ता ही नहीं है। इसी प्रकृति का विध्वंसक रूप मृत्यु है, इस मृत्यु को अतिक्रम करना आज भी असंभव ही है और इसीलिए फिर स्वप्न के सहयोग से, कल्पना की सहकारिता से, मनुष्य स्वर्गलोक और अमरता की सृष्टि कर प्रकृति के कवल से मुक्त होने का प्रयास करता जा रहा है। प्रकृति को वास्तव में पूर्णरूप से जीतना ही मनुष्य के स्वाधीन और स्वराट् होने का रास्ता है, परन्तु वह पथ जैसा दुर्गम है वैसा ही सुदीर्घ है, हो सकता है वह रास्ता अन्तहीन भी है। इसीलिए मनुष्य अपने को इस वास्तव जगत् से हटा कर भाव कल्पना के जगत् में ले जाता है और वहाँ पर वह अपने स्वराटत्व की घोषणा करता है।

इस कला जगत् में, मानव-मानस के भावकल्पलोक में तीव्रतम दुःख और दुर्भाग्य भी उसके निरतिशय दुःख का कारण नहीं है। वास्तव जीवन में जो अवांछित दुःख यातनाएँ क्षण-क्षण में उस पर आक्रमण कर उसे विध्वस्त करती हैं, कल्पना के जगत् में वह उन दुःख यातनाओं के अनुभव करने में, उन के आस्वादन करने में संकुचित नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर चरम दुःख मृत्यु भी उसकी अपनी सृष्टि है। कला जगत् में मनुष्य ने विषय विषयी (Subject-object) के विरोध को एक आश्चर्यजनक उपाय से निरस्त किया है। कला जगत् में मनुष्य एक ओर से विषय के रूप में सुख-दुख आनन्द वेदना के उत्थान पतन से आन्दोलित होता है और दूसरी ओर से

वही व्यक्तिहीन भोक्ता के आसन से विषयी के रूप में अपने को ही उपभोग करता है। शिल्पी का उपभोग इसीलिए लौकिक विषयोपभोग की—सुख-दुःख की जीर्णता से मुक्त है। भारतीय आलंकारिकों ने इसी लिए काव्य को अलौकिक आनन्द का कारण माना है। काडवेल की भाषा में इसी लिए यह कहा जा सकता है कि "कला अनुभूति के जगत् में मनुष्य की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है।"

स्वप्न एक ओर से जिस प्रकार बाधाग्रस्त अपरितृप्त वासना की काल्पनिक परितृप्ति का एक कौशल है, उसी प्रकार दूसरी ओर से यहां स्वप्न भावी वास्तव सृष्टि के लिए तैयारी भी है। मार्क्स की राय में मानव जाति जिन कामों को कर सकेगी केवल उन्हीं कामों को वह सदा अपने लिए निर्धारित करता है; इसे मानते हुए किसी मार्क्सवादी का स्वप्न देखने का अधिकार है कि नहीं इस प्रश्न के उत्तर देते हुये लेनिन ने अठारहवीं शती के षष्ठ दशक के प्रसिद्ध साहित्य समालोचक पिसारेव (Pisarev) की जिस उक्ति को उद्धृत किया है यहाँ पर हम उसे दे सकते हैं।

स्वप्न और वास्तव के पार्थक्य के सम्बन्ध में पिसारेव ने लिखा है कि "पार्थक्यों में भी प्रभेद है। मेरा स्वप्न घटनाओं की स्वाभाविक अग्रगति के आगे-आगे दौड़ता हुआ जा सकता है अथवा एक ऐसी दिशा में चला जा सकता है जिधर कभी भी घटनाओं की अग्रगति नहीं होगी। पहले क्षेत्र में मेरा स्वप्न कुछ भी अनिष्ट नहीं करेगा, हो सकता है कि वह मेहनत करने वाली मानव जाति के प्रयासों का समर्थन कर उसे शक्तिशाली भी बना सकता है।......इस प्रकार के स्वप्न में ऐसा कुछ भी नहीं है जो श्रमशक्ति को विकृत अथवा विकल कर सकता है।

दूसरी ओर यदि मनुष्य स्वप्न देखने की शक्ति से वंचित होता, यदि वह कभी सबसे आगे रह कर दौड़ न सकता और जिस काम को वह अभी शुरू करने जा रहा है, एक सम्पूर्ण और समग्र चित्र में यदि वह उस काम के परिणाम के बारे में धारणा न कर सकता तो मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कला-विज्ञान और व्यवहारिक कर्मक्षेत्र में व्यापक और थकानेवाले काम को उठाने और उसे पूरा करने के लिए कौन-सी उत्तेजना रह सकती है जो उसे प्रेरित कर सकती हो।.......स्वप्न और वास्तव के व्यवधान से कुछ अनिष्ट नहीं होता अगर वह ध्यान के साथ जीवन को देखता है, जिन हवाई किलों को वह बनाता है यदि उनके साथ वह अपने प्रत्यक्ष दर्शन की तुलना करता है और मामूली तरीके से कहा जा सकता है, यदि वह अपनी कल्पना को वास्तव बनाने के लिए आन्तरिकता के साथ काम करता है। यदि स्वप्न के साथ जीवन का कोई सम्बन्ध रहे तो सब ठीक रहता है[1]।"

साहित्य और कलासृष्टि के क्षेत्र में कल्पना और स्वप्न की इस सृजनकारी भूमिका को भूलना नहीं चाहिए।

---

1. Lenin: What is to be done ?

१४

मानवीय सत्ता और विश्व प्रकृति दोनों वस्तुजगत् का ही विभिन्न परिणाम हैं, वस्तुवादी दर्शन का यह मौलिक सिद्धान्त है। प्राकृतिक जगत् के नाना परिवर्तनों के प्रभाव से ही मानव-प्रकृतिने अपनी विशेषताओं को प्राप्त किया है और इसीलिए मानव-मानस और मानव शरीर के साथ प्राकृतिक जगत् का एक अविच्छेद्य और गहरा सम्बन्ध विद्यमान है। इसी विश्व-प्रकृति में ऋतुचक्र के आवर्तन से जिस प्रकार नाना विचित्रताओं का आविर्भाव होता है उसी प्रकार मानव शरीर के स्नायुतंत्रियों में, उसके रक्त प्रवाह के छन्द में और उसी के फलस्वरूप मानवमानस में भी नाना प्रकार के अवर्णनीय भाव और अनुभूतियों का विचित्र स्पन्दन जाग्रत होता है। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति के छन्द के साथ मानव शरीर और मन के छन्द का जो मौलिक और निगूढ़ सम्बन्ध है इसी से मानव मन में प्रथम सौन्दर्यानुभूति का जागरण हुआ था। सूर्योदय, आकाश की नीलिमा, समुद्र का तरंगविक्षुब्ध रूप, आँधी की दुर्दम प्रलयलीला, श्यामला प्रकृति की हरी भरी सुधामयी स्निग्धता, पक्षियों का कल-कूजन, फूलों का वर्ण और गंध सम्भार—इन सबसे मनुष्य के मन में जिस सौन्दर्यानुभूति का उद्रेक होता है, उसके मूल में मनुष्य के साथ विश्व प्रकृति के मौलिक सम्बन्ध की ही क्रिया मालूम पड़ती है। प्राकृतिक व्यापारों का अन्तर्निहित छन्द मानव शरीर के स्नायु-तंत्रियों को भी उसी के अनुरूप छन्द से स्पन्दित करता है;

संभवतः इसी लिए मनुष्य एक अपूर्व आत्मविलुप्ति और व्याप्ति का अनुभव करता है। इसीलिए सौन्दर्यानुभूति अन्य प्रकार के सुख दुःख की अनुभूतियों से स्वतंत्र प्रकृति की मालूम पड़ती है। साधारण सुख-दुःख मनुष्य को व्यक्तिकेन्द्रिकता की ओर, स्वातंत्र्य-सचेतनता की ओर ले जाते हैं, किन्तु सौन्दर्यानुभूति मनुष्य को एक व्यापक अनुभूति में लीन कर देती है, विश्वानुभूति की ओर आकर्षण करती है। सौन्दर्य मनुष्य को प्रकृति के साथ संग्राम में आह्वान नहीं करता, प्रकृति के छन्द से उसे आन्दोलित करता है।

सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध इसी लिए मूलतः रूप के साथ है, छन्द के साथ है। विश्व की नाना वस्तुओं में एक ऐसी सुसंगति और ऐसा सामंजस्य है जो हमारी चेतना में एक अभिनव अनुभूति को जाग्रत करता है। इसी अनुभूति का नाम सौन्दर्यानुभूति है। अवश्य रूप का सम्बन्ध प्रधानतया दर्शनेन्द्रिय के ही साथ है परन्तु केवल दर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही हमें रूप की उपलब्धि होती है ऐसी बात नहीं है। अन्यान्य इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष होता है उसका भी एक 'रूप' है; इतना ही नहीं बल्कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अतिरिक्त बुद्धि अथवा अनुभूति से प्रत्यक्ष वस्तुओं का भी एक रूप है; अर्थात् वस्तु मात्र का ही एक आकार होता है। एक युक्तिपूर्ण बुद्धिग्राह्य आलोचना का भी रूप है। किसी भी वस्तु की आकृति की सुसम्पूर्णता और विभिन्न अंशों के सुसामंजस्य जब हमारे मन में आनन्दानुभूति को जाग्रत करते हैं तो हम उस वस्तु को सुन्दर कहते हैं। किसी आलोचना में युक्तिपरम्परा का समावेश जब एक सामंजस्य की सृष्टि करता है तो उस आलोचना को भी हम सुन्दर कहे बिना नहीं रह सकते। साहित्यसृष्टि अथवा किसी भी प्रकार

की कला सृष्टि का प्रधान प्रयोजन ही रवीन्द्र नाथ के शब्दों में उसकी 'प्रत्यक्ष-गोचरता' अर्थात् रूपवत्ता है।[1]

मनुष्य का रागात्मक जीवन उसके भाव कल्पना के जगत् में, स्वप्नजगत् में निरन्तर अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और यह भाव कल्पना का जगत् ही अदृश्य मानस लोक से फिर कलाजगत् में अविभूर्त होता है। इसी लिए कलासृष्टि भाव कल्पना के वाह्य 'रूपायन' के अलावा और कुछ नहीं है। रूपायन ही शिल्पकर्म का प्रथम और प्रधान व्यापार है। इसीलिए क्या साहित्य में, और क्या अन्य किसी कला में, सौन्दर्य का अर्थात् सुसंगत रूप का प्रश्न एक मौलिक और अपरिहार्य प्रश्न है। किन्तु साहित्य कला का यही एक मात्र प्रश्न नहीं है और सर्वप्रधान प्रश्न भी नहीं है क्योंकि रागात्मक जीवन की कलाभिमुखी प्रेरणा मूलतः अनुभूति के जगत् में व्यक्तिसत्ता की बन्धनमुक्ति की प्रेरणा है, स्वराज्य स्थापन की प्रेरणा है। इसी प्रेरणा को हमारे देश के आलंकारिकों ने रसास्वाद की प्रेरणा बतलाया है।

२६

इस रसतत्व की आलोचना के पूर्व रागात्मिक जीवन के साथ समाजजीवन का क्या सम्बन्ध है और समाजजीवन के परिवर्तन और विकास के साथ रागात्मक जीवन के परिवर्तन का क्या सम्बन्ध है, अच्छी तरह विचार कर लेना आवश्यक है। आदिम मानवसमाज की सामूहिक जीवनप्रणाली में मनुष्य के व्यक्तिगत भाव-कल्पना-जगत् और समाज-मानस के भाव-कल्पना-जगत् ये दोनों एक ही ढाँचे के होते थे, इसका उल्लेख* पहले ही किया गया है। एक ही प्रकार के सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश में समाजवद्ध— यूथवद्ध—मनुष्यों के मन में एक ही प्रकार की रागात्मक प्रतिक्रियाओं के जाग्रत होने के कारण भाषा व्यक्तिगत न होकर सामूहिक मनुष्य की भाषा में परिणत हुई थी। और बाद को इसी भाषा के द्वारा मनुष्य की व्यक्तिगत भावना और अनुभूति को समाज-गत भावना और अनुभूति में परिणत करने का पथ और भी प्रशस्त हुआ है। यह रागात्मिक जीवन अवश्य ही वास्तवजीवन का अर्थात् समाज की वास्तव परिस्थिति का ही प्रतिफलन है। इसी लिए मनुष्य का यह रागात्मक जीवन और मानवमानस के भाव कल्पना जगत् स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं है; सामाजिक सम्बन्धों के और प्राकृतिक जगत् के परिवर्तनों के कारण मानव मानस के इस भावकल्पना का जगत् और रागात्मक

---

* देखिये 'रस व रूप'-महेन्द्र चन्द्र राय, जनवाणी अगस्त १६४८

जीवन भी क्रमशः परिवर्तित हो चला है। किन्तु इस बात को कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि यह परिवर्तन दृश्य परिवर्तन के साथ-साथ दर्पण में प्रतिबिम्बित दृश्य के परिवर्तन की तरह बिलकुल नहीं है।

विश्व प्रकृति में परिवर्तन का स्रोत अनादिकाल से ही अविच्छिन्न धारा में बहता आया है, जिससे इस पृथ्वी का भी रूपान्तर होता गया है। किन्तु प्रत्येक युग के रूपान्तर के साथ उसके पूर्ववर्ती युग के जो कुछ परिवर्तन थे सभी मिट नहीं जाते, भूगर्भ के तहों में उन परिवर्तनों का चिह्न आज भी विद्यमान है। धरणी के ऊपर के दृश्यों में जितना भी आमूल परिवर्तन क्यों न हो, धरणी के गोपन गर्भ में अतीत अनेक युगों के चिह्न (वहाँ के नाना परिवर्तन के बावजूद) आज भी विद्यमान हैं; वे बिलकुल निश्चिह्न तो हुए ही नहीं, बल्कि उन स्तरों में संचित वस्तुराशि ने आजकल की जीवन यात्रा के उपयुक्त उपकरण बनकर वर्तमान जीवन को भी एक निर्दिष्ट सीमा के अन्दर काफी परिवर्तित और विकसित किया है।[1]

मानव समाज के परिवर्तन के बारे में आलोचना करने पर भी हम एक ही व्यापार को देखते हैं। यह तो पहले ही बतलाया गया है कि समाज का विवर्तन उसकी उत्पादन-विनिमय पद्धति के क्रम विकास का ही परिणाम है। किन्तु यहाँ भी उत्पादन पद्धति का परिवर्तन आकस्मिक और विच्छिन्न दृश्यपट परि-

१. भ्रूणतत्व के अध्ययन में भ्रूण विकास के व्यापार में भी हम देखते हैं कि प्रत्येक जीव भ्रूणावस्था में पूर्ववर्ती निम्न स्तर के भ्रूणावस्थाओं में से हो कर उच्च स्तर में उपनीत होता है। संभवतः इसी लिए मनुष्य के अन्दर उसके पूर्ववर्ती जीवन स्तरों के असंख्य संस्कार भी संचित रहते हैं।

वर्तन की तरह नहीं हुआ; अतीत सामाजिक व्यवस्था के आधार पर और कुछ अंशों में उन्हीं सामाजिक व्यवस्थाओं और उत्पादन पद्धति के जरिये ही नवीन उत्पादन पद्धति और समाज व्यवस्था का अविर्भाव हुआ है और अतीत का बहुत कुछ उसके साथ रह भी गया है। भूतात्विक विप्लव (geological cataclysm) के द्वारा पृथ्वी के चेहरे में भी कभी-कभी आमूल परिवर्तन हुआ है इसमें सन्देह नहीं, उसी तरह मानव समाज में भी विप्लव नहीं हुआ अथवा हो नहीं सकता ऐसी बात नहीं है; किन्तु ये वैप्लविक परिवर्तन भी अतीत के सब कुछ बिलकुल परित्याग कर संभव नहीं हुए। अतीत के बहुत कुछ को वर्तमान अपने ही प्रयोजन से वर्जन न कर, नाना प्रकार से रूपान्तरित कर, अपने भंडार में संचित रखता है।

इसीलिए किसी विशेष समाज-व्यवस्था के परिवर्तन के साथ समाज-मानस में पहले के उत्पन्न प्रवृत्ति, भाव, धारणा और अनुभूति एकदम विलीन नहीं हो जातीं, बल्कि अदृश्य भू-स्तर की तरह मानव मानस में—सामाजिक मनुष्य के समाज-मानस में सभी गुप्त रूप में संचित रहती हैं। इसी प्रकार समाज मानस के स्तरों में युग-युग से ये सब भाव कल्पना संचित हो कर मनुष्य के जीवन को समृद्ध और साथ ही जटिल भी करती जाती हैं। इसीलिए फ्रायडीय (Freudian) मनोविकलनने (Psychoanalysis) आज के आधुनिक मानव की अवचेतना में आदिम मानव समाज की बहुत-सी भावना और प्रवृत्तियों को उघार कर दिखलाया है। (यहाँ पर मैं युंग [Jung] के पुराणतत्व के मनोविश्लेषण को फ्रायडीय मनोविकलन के अन्तर्गत मान रहा हूँ)। मानव मानस में रागात्मक जीवन का यह जो भूतकाल के नाना स्तरों का संचय है, इसे भूलने से हम

साहित्य-कला के बहुत सी बातों की व्याख्या नहीं कर पायेंगे।

इस विषय मार्क्स ने जो उक्ति की है वह बहुत ही तात्पर्य-पूर्ण है। वह कहते हैं कि "मनुष्य अपने इतिहास का निर्माता है, किन्तु वे इसे जैसा चाहे वैसा नहीं बना सकते, अपने द्वारा निर्वाचित पारिवेशिक दशा में नहीं, बल्कि अतीत से प्राप्त, प्रदत्त और संक्रमित (Transmitted) पारिवेशिक दशा के अधीन रह कर वे इसका निर्माण करते हैं। सारे मृत पुरखों (Generations) का ऐतिह्य परम्परा (tradition) जीवित पीढ़ियों के मस्तिष्क में 'भूत' (nightmare) की तरह सवार रहता है। और जब लोग अपने और (अन्यान्य) व्यापारों के आमूल परिवर्तन के कार्य में, सम्पूर्ण नवीन कुछ सृष्टि करने के काम में लगे मालूम पड़ते हैं, तब वैसविक संकट के ठीक उन्हीं युगों में वे अपने कार्यों में बड़े आग्रह के साथ अतीत के भूतों को बुला लाते हैं और विश्वइतिहास के नूतन दृश्य को इस बहुकाल-सम्मानित छद्म रूप में और उधार की हुई भाषा में प्रस्तुत करने के लिये उनसे नाम, नारे (slogans) और पोशाक उधार लेते हैं।"[1]

मानवमानस में रागात्मिक संस्कार एक दिन में ही नहीं बनते हैं; दीर्घकाल से एक ही प्रकार की जीवन प्रणाली में पालित पोषित होने के कारण मनुष्य जिन दैनन्दिन कर्म व्यवहारों में प्रवृत्त होता है वही सब कर्म उसके मन में कुछ भाव और अनुभूति को भी जन्म देते हैं और बार बार ऐसे भाव और अनुभूतियों के जाग्रत होने के फलस्वरूप मानवमन में ये सहजात संस्कार में परिणत हो जाते हैं। ये अनुभूतियाँ मानवमन में एक भाव कल्पना की जगत् बना लेती हैं और इन आवेग अनु-

१. Eighteenth Brumaire

भतियों को आश्रय कर कुछ विशेष प्रतीक (Symbol) बन जाते हैं। इसीलिए भाव और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उनके अभ्यस्त रास्ते से इन प्रतीकों के द्वारा ही होती है। अतः पारिवेशिक परिवर्तन के कारण मनुष्य जब किसी वैप्लविक परिवर्तन का संघटन करता है तो पुराने प्रतीकों के रूप में ही नवीन भाव और अनुभूतियाँ अपने को व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार से पुराने प्रतीकों की आड़ में नयी-नयी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है और इन नवीन प्रवृत्तियों के अविर्भाव से पुराने प्रतीकों का अर्थान्तर हो जाता है। इसी प्रकार से प्राकृतिक शक्तियों के पुराने जमाने के प्रतीक देव-देवियों को बाद के जमाने में सामाजिक शक्तियों के प्रतीक में परिणत होते देखा जाता है। [1] किन्तु अतीत जीवन स्तर में उद्भूत भाव कल्पनाओं के आवरण में नवीन भाव कल्पनाओं के अविर्भाव की अनिवार्यता को मानते हुए भी मार्क्स ने इन भाव कल्पनाओं को कभी अपरिवर्तनीय नहीं माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि "इसी प्रकार से जिसने किसी नयी भाषा को सीखा है वह हमेशा उस भाषा को अपनी मातृभाषा में अनुवाद कर लेता है किन्तु तभी वह इस भाषा की अन्तरात्मा को आयत्त कर लेता है और इसमें स्वच्छन्द होकर सृष्टि कर सकता है जब वह अपनी पैतृक भाषा को भूलकर, पुरानी भाषा को याद किये बिना ही, इस (नवीन भाषा) में विचरण कर सकता है। [2] किसी वैप्लविक परिवर्तन के समय समाज की वैप्लविक प्रवृत्तियाँ प्राचीन परम्परा के छद्मरूप में ही सक्रिय हो उठती हैं। यूरोप

1. Anti Duhriug.

2. Eighteenth Brumaire. (Works of Karl Marx Vol II p. 316)

के रेनेसाँ (पुनर्जागरण) और भारतीय रेनेसाँ में इस प्रकार की प्रकाश-प्रवृत्तियों का परिचय काफी परिमाण में मिलता है। फ्रान्स में १७८९ ई० से १८१४ ई० तक और १८४८ ई० में जो विप्लव हुआ उसमें भी इस प्रकार पूर्व युग की परम्पराओं का सहारा लिया गया था और मार्क्स ने कहा था कि "इसी लिए उन विप्लवों में मृतों का (अतीत का) जो जागरण हुआ था, उसने नवीन संग्रामों को महिमान्वित किया था, प्राचीन का व्यंगानुकरण (parody) नहीं किया था; युगनिर्दिष्ट नियत किये हुये कर्मों को कल्पना में वृहत् बनाने का काम किया था, वास्तव जगत में उनको हल करने के बजाय भागने का काम नहीं किया, उसने विप्लव की मूलसत्ता को पुनः प्राप्त करने का कार्य किया, विप्लव की प्रेतात्मा को पुनः (पृथिवी पर) विचरण करने का मौका नहीं दिया था।"[१] इसी प्रकार से अतीत में उत्पन्न रागात्मक जीवन के भाव और अनुभूतियाँ आगामी काल की कर्मधारा में वेग संचारित करती है और साथ ही रागात्मक जीवन में भी रुपान्तर हो जाता है और समाज मानस में, भावकल्पना के जगत् में नये-नये प्रतीकों का जन्म होता है।

---

१. Eighteenth Brumaire. Works of Karl Marx Vol II p 317

२६

आदिम वर्ग हीन समाज ने ऐतिहासिक द्वन्द्ववादी प्रेरणा से श्रेणी विभक्त समाज का जन्म दिया है। वर्ग विभक्त समाज में वर्ग विरोध और वर्ग संघर्ष का होना जिस प्रकार अनिवार्य है उसी प्रकार समाज मानस में उसका प्रतिफलन भी अवश्यम्भावी है। उत्पादन शक्ति के विकाश के कारण एक ओर से जिस प्रकार श्रम विभाजन और वर्गभेद की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार समाज के सभी वर्गों के ऊपर विशेष वर्गों के आधिपत्य का भी अविर्भाव होता है। इस श्रेणीशासन का प्रधान लक्ष्य श्रेणीगत स्वार्थ की रक्षा करना होता है। किन्तु इस श्रेणीगत स्वार्थ की रक्षा करते हुए भी शासक वर्ग को समग्र समाज के सामूहिक स्वार्थ की भी रक्षा कुछ अंशों में करनी पड़ती है, क्योंकि समाज के सामूहिक प्रयोजन को बिना पूरा किए कोई भी राजनीतिक प्रभुत्व अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता और इसीलिए प्रत्येक शासक श्रेणी को कम से कम यह बहाना करना ही पड़ता है कि वह समग्र समाज के स्वार्थ की रक्षा में ही तत्पर है।[1]

यही कारण है कि किसी भी समाज का जीवनादर्श—उस का धर्म, नीति, साधारण विचारधारा तत्कालीन शासक संप्रदाय के जीवनादर्श को ही प्रतिफलित करने के लिए बाध्य होता है। समाज के विभिन्न वर्गों में जो अन्तर्विरोध है वह जीवन पद्धति

---

1. Anti Duhring. p 269

का अर्थात् सामाज़िक व्यवस्था का अनिवार्य फल है, वह समाज के विभिन्न वर्गों के मानस में नाना प्रकार के विरुद्ध राग-विराग भाव और अनुभूतियों को उत्पन्न करता है किन्तु शासक वर्ग का जीवनादर्श ही समाज मे विशेष रूप से प्रचारित और स्वीकृत होता है। शासक संप्रदाय के इस प्राधान्य और प्रभुत्व के फलस्वरूप समाज के शासित वर्गों की भावना और अनुभूतियाँ सम्यक् और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का पथ न पाकर समाज मानस की अवचेतना में संचित होती जाती हैं और इधर शासक श्रेणी के भाव और भावनाओं को लेकर ही एक वर्गीय संस्कृति का निर्माण होता जाता है। इसी से अतीत के आदिम वर्गहीन समाज के वाद समाज में जो वर्ग विभेद की धारा कई हजार वर्षों से चली आयी है, उससे भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियाँ, श्रेणीगत भाव-भावनाओं और अनुभूतियों का ही प्रतिनिधित्व करती आयी हैं। अवश्य इन सांस्कृतिक विकासों के अन्दर सभी वर्गों के कुछ साधारण भाव और भावनाएँ भी विकसित होती आयी हैं, इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। एक साधारण मानविक आदर्श की स्वीकृति के विना कोई भी वर्गीय शासन अधिक दिन अन्य श्रेणियों के ऊपर प्रभुत्व नहीं कर सकता। किन्तु इसके बावजूद आज तक प्रत्येक संस्कृति के अन्दर शासक श्रेणी की भाव-भावना का ही प्राधान्य रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

हम लोगों ने देखा कि सामाजिक विकास के ऐतिहासिक वस्तुवादी द्वान्द्विक नियम के अनुसार समाज के वर्ग विन्यास में परिवर्तन का होना अनिवार्य है। कोई भी वर्ग समाज के ऊपर हमेशा प्रभुत्व नहीं रख सकता। इसलिए समाज में युग-युग जिस प्रकार विप्लव होता जाता है, उसी प्रकार समाज

मानस में भी एक युग के भाव और भावना के प्राधान्य मिट कर दूसरे युग के भाव और भावना का प्रतिफलन होता रहता है। अवश्य यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्ग विन्यास और वर्गगत प्रभुत्व में परिवर्तन के फलस्वरूप शासक वर्ग के भाव और भावनाओं के प्राधान्य (Emphasis) ही मिट सकता है, किन्तु समाज मानस से ये भाव भावनाएँ बिलकुल अन्तर्हित हो नहीं जातीं। दीर्घ काल के अभ्यास से वे मानससंस्कार में परिणत हो जाती हैं और ये संस्कार समाज के अन्दर रह जाते हैं—अवचेतन स्तर में होने पर भी ये बिलकुल उत्पाटित और विनष्ट नहीं हो जाते। वर्ग विभक्त समाज की संस्कृति में इसी लिए एक भावसंघर्ष व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में रहता ही है।

अतः जभी समाज में वर्गविप्लव उपस्थित होता है तभी शासक रूप में उदीयमान नवीन वर्ग की भाव-भावनाओं को अनेकांश में पूर्वगामी शासकवर्ग के भाव-भावनाओं के भेस में ही आविर्भूत होना पड़ता है। इसीलिए बुर्जुआ धन-तांत्रिक समाज के आविर्भाव से सामन्त-तांत्रिक युग के सामाजिक रीतिनीति, भावना, कल्पना, साहित्य, दर्शन बिलकुल परित्यक्त नहीं हुए, बल्कि उन्हीं को आश्रय करके ही धनतांत्रिक समाज के भाव और भावनाओं का उन्मेष होने लगा है; अन्त में धीरे धीरे उस पुरानी सामन्ती संस्कृति को रूपान्तरित कर वह अपने विशेष रूप लेकर खड़ी हुई है। किन्तु पूर्व युगों के रागात्मक जीवन के नाना स्वप्न और अनुभूतियों के सहारे यह ज़ो आसन्न युग के आत्म प्रकाश का प्रयास है, समाज-विप्लव की यह जो अतीताश्रयी विकास चेष्टा है, इसमें आमूल परिवर्तन के प्रयोजन के बारे में मार्क्स ने जो उक्ति की है उसका भी यहाँ उल्लेख करना उचित समझता हूँ।

वह कहते हैं कि "उन्नीसवीं शताब्दी का समाज विप्लव अतीत से अपने काव्य की प्रेरणा को प्राप्त नहीं कर सकेगा. केवल भविष्य से ही वह प्राप्त कर सकेगा। अतीत के सारे कुसंस्कारों से मुक्त न होकर यह विप्लव अपने कार्य को शुरू नहीं कर सकेगा। पूर्व कालीन विप्लवों के लिए उनके अपने अभीष्ट (content) के नशे में मशगूल होने के लिये विश्व-ऐतिहासिक संस्मरणों (recollections) की जरूरत थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के विप्लव को अपने अभीष्ट तक पहुँचने के लिए, अतीत के प्रति ममता को बिलकुल त्याग देना होगा (must let the dead bury its dead) वहाँ पर (अर्थात् पूर्व युगों के विप्लव में) वाक्य ने विषय को अतिक्रम किया था, यहाँ पर (उन्नीसवीं शताब्दी के विप्लव में) विषय वाक्य को अतिक्रम कर रहा है।[1]"

१. Eighteenth Brumaire Works of Karl Marx Vol II p 318

यहाँ पर 'वाक्य' (phrase) शब्द को मार्क्स ने आधुनिक परिभाषा 'रूप' (form) के लिये प्रयोग किया है यह समझना कठिन नहीं है। अर्थनीतिक आधार और उसके ऊपर प्रतिष्ठित राजनीतिक और आइन सम्बन्धी व्यवस्था के सम्पर्क में मार्क्सीय सिद्धान्त की आलोचना के सिलसिले में स्तालिन ने पहले की तुलना सामाजिक जीवन का 'विषय' (content) के और दूसरे की 'रूप' (form) के साथ करते हुये कहा है कि "......वर्तमान रूप कभी भी वर्तमान विषय वस्तु के अनुरूप नहीं होता; पहला हमेशा दूसरे के पीछे पड़ा रहता है; नवीन विषय कुछ अंशों में सर्वदा पुराने रूप के द्वारा आच्छन्न रहता है, इसलिए नवीन विषय और पुराने रूप में सदा ही एक विरोध रहता है।"

Quoted by M. Arzhanov in Voks Bulletin No. 55. 1948 from Stalin's Collected Works Vol I p 328-29.

पूर्व युगों के सामाजिक विप्लवों के साथ आगामी समाज-विप्लव की भिन्नता प्रदर्शित करने के पीछे जो मार्क्सीय सिद्धान्त है उसे अच्छी तरह समझे बिना आगामी विप्लव के (सुतराम् वर्तमान समय की दृष्टि से कह सकते हैं कि आरब्ध विप्लव के) क्षेत्र में जो कर्मगत विशेषता होगी उसका समझना संभव नहीं होगा और साहित्य संस्कृति का जो नवीन वैप्लविक जिम्मेवारी है वह स्पष्ट नहीं होगी।

२७

ऐतिहासिक काल में अबतक जितने भी सामाजिक विप्लव हुए हैं, सबने श्रेणी विभक्त समाज में उत्पादन पद्धति के विकास के फलस्वरूप समाज के श्रेणीविन्यास और वर्गीय आधिपत्य में परिवर्तन किया है और उत्तरोत्तर श्रेणी-विभेद को और भी तीव्र करते हुए अन्त में मानव समाज को मुख्यतः दो तीव्र विरोधी श्रेणियों में विभाजित कर दिया है; परन्तु उससे समाज की श्रेणी-विभक्त प्रकृति में कोई भी मौलिक परिवर्तन घटित नहीं हुआ। इसीलिए एक श्रेणी के प्रभुत्व के समाप्त होने पर भी श्रेणी-मूलक दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन न होने के कारण समाज-मानस में जो भाव-भावनाएँ हैं उनके लक्ष्य में समग्र रूप से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

श्रेणी विभक्त समाज के प्रकृतिगत अन्तर्विरोध के कारण ही उसमें क्रमागत परिवर्तन होते जा रहे हैं और यह अन्तर्विरोध आज पूँजीवादी समाज में चरमता पर आ पहुँचा है। "अतः", मार्क्स की भाषा में, "यह सामाजिक संगठन मानव समाज के प्रागैतिहासिक स्तर का अन्तिम अध्याय है।' इस चरम विरोध का निरसन अन्यतर श्रेणीगत समाज के रूप में नहीं होगा, इस विरोध का अन्त पहले समाजवादी समाज के रूप में होगा और वह समाजवादी समाज धीरे-धीरे सम्पूर्ण श्रेणी हीन समाज को जन्म देगा। इसीलिए इस समाजवादी समाज को अतीत परम्परा के सारे श्रेणीमूलक भाव और कल्पनाओं का सम्पूर्ण

वर्जन कर भावी समाज के अभिनव दृष्टि भंगी के अनुकूल नवीन भाव और कल्पनाओं द्वारा समाज-मानस को अनुरंजित करना होगा। अवश्य ही समाज के नवीन सामाजिक विन्यास के कारण समाज-मानस में नूतन भाव-कल्पना का आविर्भाव अनिवार्य हो उठेगा, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु नवीन भाव और भावनाओं द्वारा समाज को नवीन विन्यास के लिए वैप्लविक साधना में प्रेरित करना होगा इसमें भी सन्देह नहीं है। समाज के क्रम-विकास में समाज-मानस के इस प्रभाव के महत्व को कभी भी भूलना नहीं चाहिये।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज-मानस की नाना भावना-कल्पनाओं का जन्म मूलतः अर्थनीतिक कारणों से होने पर भी, बाद में ये समाज के क्रम विकास को प्रभावित और कुछ अंशों में नियंत्रित करती हैं, यह बहुत से लोग प्रायः भूल जाते हैं। द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक भौतिक वाद की व्याख्या करते हुए स्तालिन ने "मनुष्यों की चेतना के द्वारा उनकी सत्ता निरूपित नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत उनकी सामाजिक सत्ता के द्वारा ही उनकी चेतना निरूपित होती है" इस प्रसिद्ध मार्क्सीय सिद्धान्त-वाक्य पर जो टीका की है यहाँ उसे विस्तृत रूप से उद्धृत करना उचित समझता हूँ। स्तालिन लिखते हैं:—

"परन्तु मार्क्स के इन शब्दों का अर्थ यह नहीं है कि समाज-जीवन में सामाजिक भावना, मतवाद, राजनीतिक मतामत और राजनीतिक संगठनों का कोई तात्पर्य नहीं है अथवा वे अन्योन्य रूप से (Reciprocally) सामाजिक सत्ता को, समाज-जीवन की भौतिक दशाओं (Material conditions) के विकास को प्रभावित नहीं करते। हमने अबतक सामाजिक भाव, मतवाद, मतामत और राजनीतिक संगठनों की उत्पत्ति के (Origin)

सम्बन्ध में किस प्रकार उनका उद्भव होता है, बताया है, साथ ही यह भी बताया है कि समाज का मानस-जीवन (स्पिरिचुअल लाइफ) उसकी भौतिक जीवन-दशाओं का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक भाव, मतवाद, राजनीतिक संगठनों के तात्पर्य को और इतिहास में इनकी भूमिका को (role) ऐतिहासिक भौतिकवाद अस्वीकार तो करता ही नहीं, वरन् समाज-जीवन में और उसके इतिहास में इन सब उपादानों की भूमिका और गुरुत्व पर जोर देता है।

"नाना प्रकार के सामाजिक भाव और मतवाद हैं; ऐसे पुराने भाव और मतवाद हैं जिनका समय अतिक्रान्त हो गया है, जो समाज के मुमूर्षु शक्तिपुञ्जों का स्वार्थ-साधन करते हैं। इनका तात्पर्य यह है कि ये समाज की परिणति और प्रगति को बाधाग्रस्त करते हैं। इसके अलावा ऐसे नवीन और अग्रगामी (Advanced) भाव और मतवाद हैं जो समाज की अग्रगामी शक्तियों के स्वार्थों में नियोजित हैं। इनका तात्पर्य यह है कि ये समाज की परिणति और प्रगति को सहज सुगम करते हैं और समाज के भौतिक जीवन (material life) के विकास के प्रयोजनों को ये जितनी अधिक यथार्थता के साथ प्रतिफलित करते हैं, इनके तात्पर्य का गुरुत्व भी उतना ही अधिक होता है।

"समाज के भौतिक जीवन का विकास जब समाज के सम्मुख नवीन कर्तव्यों को उपस्थित करता है केवल उसी समय नवीन सामाजिक भाव और मतवादों का उद्‌भव होता है। किन्तु एक-बार उद्‌भूत होने के बाद वे अत्यन्त प्रबल शक्ति में परिणत होकर समाज के भौतिक जीवन के विकास द्वारा निर्धारित नूतन कर्तव्यों के सम्पादन में सहायक होते हैं और समाज की प्रगति को सहज करते हैं। नूतन भाव, नूतन मतवाद, नूतन राजनीतिक

मतामत और नूतन राजनीतिक संगठनों का विपुल संगठनात्मक, संचालक, और रूपान्तरकारी मूल्य यहीं प्रकट होता है। समाज के लिए प्रयोजन है, इसीलिए इनके संगठन-संचालन-रूपान्तरात्मक कार्य के बिना समाज के भौतिक-जीवन के विकास के लिए जो कार्य अत्यन्त आवश्यक है वह असंभव हो जाता है, इसीलिए नवीन सामाजिक भाव और मतवाद का उद्भव होता है। समाज के भौतिक जीवन के विकास द्वारा निर्धारित नवीन कर्तव्यों में से उद्भूत नवीन सामाजिक भाव और मतवाद अपना रास्ता बना लेते हैं। वे जनता (masses) के भाव-स्पन्द में परिणत होते हैं और समाज के मुमूर्षु शक्ति-पुंजों के विरुद्ध जनता को संचालित और संगठित करते हैं और इसी तरह जो शक्तियाँ समाज के भौतिक जीवन के विकास में बाधक होती हैं उन्हें विनष्ट करने (overthrow) में सहायक होते हैं।

"समाज सत्ता के विकास के, समाज के भौतिक जीवन के विकास के जरूरी काम के आधार पर उत्पन्न सामाजिक भाव, मतवाद और राजनीतिक संस्थाएँ पुनः समाज सत्ता के ऊपर, समाज के भौतिक जीवन के ऊपर, अपनी प्रतिक्रिया के द्वारा समाज के भौतिक जीवन के आवश्यक कर्मों को पूर्ण रूप से पूरा करने के लिए तथा समाज के और भी अधिक विकास को संभव करने के लिए आवश्यक परिस्थितियों को उत्पन्न करती हैं।

"इसी सम्बन्ध में मार्क्स कहते हैं।

"मतवाद ज्यों ही जनता के मनपर अधिकार कर लेता है, त्यों ही वह भौतिक शक्ति में परिणत हो जाता है।" (Zur kritik der Hegelschen Rechts philosophie)।

"एतदर्थ समाज की भौतिक जीवन दशा के ऊपर प्रभाव डालने और इन सब जीवन-दशाओं को विकसित और उन्नत

करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए सर्वहारा की पार्टी को अवश्य ही ऐसे सामाजिक मतवाद और सामाजिक भावों के ऊपर निर्भर करना पड़ेगा जो यथार्थ रूप से समाज के भौतिक जीवन के विकास के प्रयोजनों को, प्रतिफलित करते हैं और इसी कारण यह मतवाद विशाल जनगण को गतिशील करने तथा उन्हें संगठित और संचालित कर समाज की अग्रगामी शक्ति के रास्ते को साफ करने और प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कुचलने के लिए तैयार सर्वहारा पार्टी की विशाल सेनावाहिनी में परिणत करने में सक्षम है।"[१]

समाज के रूपान्तर में समाज-मानस की भावना-कल्पना और आदर्श के इस प्रचंड प्रभाव के स्वीकृत होने के कारण ही समाज में बुद्धिजीवी वर्ग का एक महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार करना पड़ता है। और आगामी समाज पूर्वगामी समाज को नष्टकर, बिलकुल नयी बुनियाद पर खड़ा होगा, इसीलिए इस वैप्लविक आदर्श को प्रतिष्ठित करने के कार्य में बुद्धिजीवी सम्प्रदाय को भाग लेना पड़ेगा। इसीलिए बुद्धिजीवी वर्ग में वे ही लोग अग्रगामी दल का काम करेंगे जो भविष्य के नये समाज को संभव करने के लिए वर्तमान समाज-जीवन में जो गति-प्रवृत्तियाँ प्रगतिशील हैं उन्हें जन-मानस में संचारित करने में सहायक होंगे। यही कारण है कि भावी समाजवादी समाज को संभव करने के उद्देश्य से समाज-मानस को उद्दीपित करना, समाज के रागात्मक जीवन को, उसकी भावना और कल्पना को अनुरंजित करना प्रत्येक विप्लववादी बुद्धिजीवी का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। वर्तमान युग के प्रत्येक प्रगतिकामी बुद्धिजीवी का यही सामाजिक और सांस्कृतिक उत्तरदायित्व है।

---

१ प्रॉब्लेम्स आव लेनिनिज्म (मास्को १९४५) पृ० ५७९-८१

१८

परन्तु सामाजिक और राजनीतिक जीवन के वैप्लविक परिवर्तन अथवा रूपान्तर में समाज-मानस के प्रभाव को मानते हुए भी, साहित्यिक और कलाकार के मन में नाना प्रकार की जिज्ञासाओं का अविर्भाव हुआ है। सामाजिक व्यक्ति के रूप में जो लोग समाज-विवर्तन में व्यक्तिजीवन के नाना प्रकार के उत्तरदायित्व को अस्वीकार नहीं करते वे भी साहित्यिक के रूप में, साहित्य के विशेप क्षेत्र में, अपने विशेप उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में नाना प्रकार के सवाल उठा रहे हैं। इसीलिए ऐसी स्थिति में साहित्यिकों का—मुख्यतः कवि और कहानीकारों का विशेप उत्तरदायित्व है कि नहीं, यह समझ लेना आवश्यक है।

साहित्य मुख्यतः साहित्यिक के मानसजगत का ही, उसकी भावना-कल्पना के जगत का ही प्रतिबिम्ब है, यह पहले ही बताया जा चुका है। परन्तु साहित्यिक का यह जो मानस जगत है वह उसका एकान्त व्यक्तिगत जगत है यह मानते हुए भी, साथही साथ यह भी मानना पड़ता है कि इस व्यक्तिगत जगत के साथ तत्कालीन समाज-मानस-जगत का घनिष्ठ सम्पर्क रहता है। भापा के द्वारा एकान्त व्यक्तिगत कल्पना-भावना किस तरह समाज-मानस में संचारित होकर बहुजनों की सामान्य भावना-कल्पना और अनुभूति में परिणत हो जाती है, यहाँ पर इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना की आव-

श्यकता नहीं है। समाज के नाना श्रेणियों में विभाजित होने के कारण मानवचेतना में भी वर्गीय भावना-कल्पनाओं का अविर्भाव होगा, यह तो स्वतःसिद्ध है। ये सब भावना-कल्पनाएँ श्रेणीगत होते हुए भी विशेष-विशेष श्रेणी में ही सीमित नहीं रहतीं और मनुष्यों की श्रेणी में परिवर्तन होने के साथ ही साथ इन भावना-कल्पनाओं के संस्कार उन मनुष्यों के मन से लुप्त नहीं हो जाते। इन्हीं कारणों से समाज-मानस में जो भावना-कल्पना एवं अनुभूतियाँ संचित होती हैं वे अपनी-अपनी श्रेणी में ही सीमित नहीं रहतीं। इसके अलावा श्रेणी-चेतना से प्रभावित होते हुए भी मनुष्य मनुष्य होने के नाते कुछ सामान्य भावना-कल्पनाएँ भी होती हैं जो सभी मनुष्यों पर प्रभाव डालती हैं। इसी प्रकार श्रेणीगत विशेषता और भिन्नता होने के बावजूद समग्र समाज में सामान्यरूप से कुछ भाव, भावना, कल्पना और अनुभूतियाँ स्वीकृत होती जाती हैं और इन्हीं के आधार पर एक सार्वजनीन मानवता (Universal Humanism) का आदर्श भी धीरे-धीरे अभिव्यक्त होता जाता है। अवश्य यहाँ पर यह भी मानना पड़ता है कि विशेष-विशेष युग में समाज के अन्दर जो श्रेणी समाज के शासक और प्रतिभू के रूप में काम करती है, उसकी भावना-कल्पना और जीवनादर्श ही साधारण रूप से समाज के साधारण आदर्श के रूप में, नाना प्रकार के स्फुट और अस्फुट आन्तरिक विरोध रहने पर भी स्वीकृत होते हैं।

इसीलिए कोई साहित्यिक यदि किसी विशेष वर्ग का है तो उसका साहित्य केवल उसी श्रेणी की मानस चेतना को, उसी श्रेणी के भाव और आदर्श को ही प्रतिबिम्बित करने को बाध्य है, यह बात सम्पूर्ण सत्य नहीं है। किसी श्रेणी में पैदा होने पर

भी शैशव से ही गहरे रूप से और विशेष कर अपने अनजान में ही, पारिवारिक भाव, अनुभूति और जीवनादर्श के द्वारा और अव्यवहित सामाजिक परिवेश के द्वारा प्रभावित होने पर भी, वयोप्राप्ति के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य एक विशाल मानव समाज में चलना-फिरना प्रारम्भ करता है। शैशव की शिक्षा-दीक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि भंगी बहुत कुछ सीमित होने पर भी, विशाल मानव समाज की नाना श्रेणियों की भावना-कल्पना और अनुभूतियों के तरंगाभिघात से प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टिभंगी में परिवर्तन होते हैं और विशेष-विशेष दशा में व्यक्तिविशेष के जीवनादर्श में वैप्लविक परिवर्तन भी हुआ करते हैं।

इसलिए यदि साहित्य को व्यक्ति विशेष के रागात्मक जीवन का, उसके भाव-कल्पना के जगत का चेतना नियंत्रण-निरपेक्ष एवं अबाध प्रतिफलन भी मान लिया जाय तो भी उस साहित्य को बिना कुछ सोचे-समझे उस व्यक्ति की 'अपनी' श्रेणीगत भावना का ही प्रतिफलन समझना युक्तियुक्त नहीं है। कोई व्यक्ति जन्म से समाज की जिस श्रेणी में पालित-पोषित होता है, केवल उसी श्रेणी के जीवनादर्श के द्वारा ही उस व्यक्ति का परिणत जीवन पूर्ण रूप से नियंत्रित नहीं होता और किसी-किसी क्षेत्र में तो उस व्यक्ति के परिणत जीवन की गति प्रवृत्तियाँ बिलकुल भिन्न श्रेणी के जीवनादर्श के द्वारा प्रभावित हो सकती हैं। किसी भी साहित्यिक की कृति की आलोचना करते समय यह बात नहीं भूलनी चाहिये।

अतएव हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति-मानस केवल एक विशेष श्रेणीगत भावना कल्पनाओं का ही भंडार नहीं है बल्कि समग्र समाज-मानस का ही आंशिक और

मिश्रित प्रतिफलन व्यक्तिमानस में अनिवार्य रूप से होता है। इसी प्रकार व्यक्तिमानस की एक विशिष्ट प्रतिक्रिया के कारण ही एक ही काल के और एक ही समाज के विभिन्न व्यक्तियों के मन में इस सामाजिक जीवन के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। व्यक्ति मानस की इस विशिष्ट प्रवणता को केवल उस व्यक्ति के बाह्य और व्यक्त श्रेणी सम्पर्कों के द्वारा समझना सम्भव है अथवा नहीं, यह अभी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता।

किन्तु इससे इस प्रकार का सिद्धान्त भी नहीं निर्धारित किया जा सकता कि साहित्यिक के मानस-जीवन के ऊपर, अतः उसकी साहित्यसृष्टि के ऊपर भी, श्रेणी सम्पर्क का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जबतक समाज में श्रेणीभेद विद्यमान है, तबतक श्रेणी-विरोध से उद्भूत मनोवृत्ति की छाप भी सभी मानवीय कर्मों पर अतः साहित्य-कर्म पर भी अनिवार्य रूप से पड़ेगी।

२९

इसी से यह प्रश्न उठता है कि जब साहित्यिक और कलाकार का मानसजीवन उसकी सामाजिक जीवन-दशा से ही उद्भूत है तो इस मानस-जीवन को ही तो वह वर्ण, छन्द और भाषा में व्यक्त करेगा। मानस-जीवन को अर्थात् व्यक्तिगत चेतना में प्रतिफलित बाह्य प्रकृति और सामाजिक जीवन के चित्र को ही तो कलाकार और साहित्यिक अपने-अपने माध्यम के द्वारा प्रकट करेंगे। इसलिए विषयवस्तु के लिए क्या कलाकार और साहित्यिक को हम उत्तरदायी बना सकते हैं? साहित्यिक और कलाकार की समस्या विषयवस्तु की समस्या नहीं है, क्योंकि वह तो उसकी जीवनदशा से ही निरूपित होती है। इसलिए उसकी समस्या केवल प्रकाशन-कला की समस्या है। "भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग" (भाव रूप में आकार प्राप्त करना चाहता है)—यही कला की एकमात्र माँग है। भाषा के द्वारा, शब्दों के विशिष्ट समावेश-कौशल द्वारा अपने मानस के भाव-कल्पना-जगत् को—भाव और अनुभवों को यथार्थतः रूपान्वित कर कल्पनाजगत् में रागात्मक जीवन की मुक्ति को प्राप्त करना, औरों के मन में भी उसे संचारित करना यही साहित्यिक का लक्ष्य है।

उपरोक्त युक्ति के द्वारा जो लोग साहित्यिक को किसी भी विषयवस्तु को साहित्य में अभिव्यक्ति देने की स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते हैं वे एक मौलिक तत्व को ही भूल जाते हैं।

'मनुष्यमात्र एक सामाजिक जीव है' इस उक्ति के तात्पर्य के बारे में उनके मन में भ्रामक धारणा है, इसीलिए वे साहित्यिक-कलाकार को प्रकाशन व्यापार में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता देना चाहते हैं। उनको यह विश्वास है कि समाजबद्ध जीव के लिए स्वाधीनता असंभव है। समाज-जीवन में व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता बहुल परिमाण में खर्वित-खंडित है। इसीलिए व्यक्ति अपनी बहुत-सी कामना-वासनाओं को अवरुद्ध रखने के लिए बाध्य होता है। ये अवरुद्ध वासनाएँ ही मनुष्य के अवचेतन जीवन में नाना विचित्र भाव-ग्रन्थियों (complexes) की सृष्टि करती हैं और नाना प्रकार के छद्म आवरण में इन वासनाओं को तृप्त करने की चेष्टा भी होती है। मनुष्य का स्वप्न-जीवन जिस प्रकार इन अवरुद्ध वासनाओं को व्यक्त कर, उनको आंशिक रूप में तृप्त करने की चेष्टा करता है, उसी तरह कला और साहित्य-सृष्टि के द्वारा भी मनुष्य की अतृप्त वासनाओं की परितृप्ति होती है। इस दृष्टि से कला-साहित्य भी मनुष्य के समाज-बन्धन से मुक्त होने का एक छद्म प्रयास मात्र है[1]। अतः साहित्य और कला के क्षेत्र में मनुष्य के सृष्टि-प्रयास की अबाध स्वतन्त्रता वाञ्छित है।

ऊपर की बातें बिलकुल मिथ्या हैं, हम ऐसा नहीं समझते। समाज में मनुष्य को एक विशेष सीमा के अन्दर रहकर ही वासनाओं को तृप्त करने की चेष्टा करनी पड़ती है, यह सही है। श्रेणी-विभाजित समाज में, विशेषकर स्वल्प-संख्यकों द्वारा शोषित, दलित अगणित मनुष्यों के समाज में, यह बात और भी यथार्थ हो उठी है, इसमें भी सन्देह नहीं है। परन्तु इस सीमा को तोड़ देने से ही अर्थात् समाज-बन्धन न रहने से ही मनुष्य

१. 'जीवन ओ साहित्य, में स्वप्न ओ साहित्य' निबन्ध देखिए।

साहित्यिक होने के नाते वहाँ पर मेरा एकमात्र दायित्व उसके यथार्थ अंकन में ही है।

मार्क्सीय समाज दार्शनिक की आपत्ति यहीं पर है। प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति का जो सामाजिक उत्तरदायित्व है, मार्क्सवादी साहित्यिक को भी उस दायित्व को स्वीकार करना पड़ता है। इस जिम्मेदारी को स्वीकार किये बिना उसकी गति नहीं, कोई-कोई इस बात को नहीं समझते और इसीलिए विषय-वस्तु के सम्बन्ध में निरपेक्ष हो जाते हैं और इससे वे यद्यपि प्रतिक्रियावादी नहीं बनते तो भी सामाजिक प्रगति में किसी प्रकार की सहायता नहीं करते।

३०

यह बात अवश्य ही स्वीकार्य है कि कोई भी व्यक्ति समाज से परे नहीं हो सकता। समाज-जीवन की भावना–कल्पना एवं अनुभूतियाँ ही व्यक्ति-मानस में, व्यक्तिगत रागात्मक जीवन में प्रतिफलित होती हैं। इसीलिए साहित्यिक जिस सामाजिक परिवेश में परिपुष्ट होते हैं, उसी सामाजिक परिवेश को वे साहित्य में चित्रित कर सकते हैं। यह भी सच है कि किसी भी लेखक के लिए उसके समकालीन समग्र सामाजिक जीवन को साहित्य में अभिव्यक्त करना संभव नहीं है, क्योंकि समाज की विशेष श्रेणीगत शिक्षा-दीक्षा के कारण किसी भी व्यक्ति-मानस में समग्र सामाजिक जीवन का यथार्थ प्रतिफलन नहीं हो सकता। इस पहलू से समाज जीवन के किसी भी अंश का यथार्थ चित्रण होने पर हम उस साहित्यिक कृति को यथार्थ साहित्य मानने के लिए बाध्य हैं।

समाज के यथार्थ चित्रण को साहित्य कहने में मार्क्सवादी समालोचक को भी कोई एतराज नहीं है। केवल उस साहित्य और साहित्यक को प्रगतिशील कहने में कुछ आपत्ति है। इसका कारण क्या है ?

समाज कोई अचल और स्थिर वस्तु नहीं है। मार्क्सीय दृष्टि में जागतिक सब कुछ प्रवहमान है। वस्तु का अन्तःस्थित द्वन्द्व उसे लगातार नव-नव उन्मेष की ओर लिए चला जा रहा है। इसीलिए प्रति मुहूर्त समाज के अन्दर एक ही समय पर

विलय और उन्मेष की लीला चल रही है। इसी से समाज के अन्दर प्रति मुहूर्त हम दो प्रकार की गति-प्रवृत्तियों को देख पाते हैं—ह्रासोन्मुखी और विकासोन्मुखी। केवल इतना ही नहीं; जब (और यह तो थोड़ा बहुत सभी समय चल रहा है) किसी नवीन शक्ति का (और इसी से नवीन श्रेणी का) प्रादुर्भाव होने लगता है, उसी समय हम उस शक्ति को पूर्ण विकसित रूप में नहीं देख पाते। इसीसे समाज में पहले से प्रतिष्ठित शक्तियों की (जिनका प्रतिनिधित्व समाज में प्रतिष्ठित शासक श्रेणी करती है) प्रबलता के सम्मुख उदीयमान नवीन शक्तियाँ क्षीण और दुर्बल प्रतीत होती हैं। लेकिन यह भी सच है कि ये उदीयमान शक्तियाँ ही अपने ललाट पर भावीकाल का तिलक लेकर आविर्भूत होती हैं। समाजमानस में उनका प्रतिफलन क्षीण होने के कारण ही साहित्य में भी प्रायः इनका प्रतिफलन होता ही नहीं और अगर होता भी है तो प्रायः क्षीण और अल्पप्राण प्रतीत होती हैं। परन्तु जिन सामाजिक शक्तियों का, भाव और भावनाओं का प्रभाव यथार्थ में ह्रासोन्मुख हो उठा है, जिनकी आयु के स्रोत में भाटा लग गया है, उनके उस लुप्तप्राय प्रभाव का यथार्थ स्वरूप समाजमानस में स्पष्ट न होने के कारण उस समय तक ये भाव और भावना, कल्पना और आदर्श ही शासक श्रेणी के द्वारा समाज में स्वीकृत होने के फल-स्वरूप प्रबल दिखाई देते हैं और ये ह्रासोन्मुख जीवन-प्रवृत्तियाँ ही सामाजिक यथार्थ का बहाना करती हैं।[1]

तथा कथित यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद का पार्थक्य यहीं पर आ जाता है।

---

१ Literature and Marxism (Article on Leninist Criticism by Mikhail Lifshitz)

समाज में भावी विकास की विरोधी अथच दृढ़-प्रतिष्ठित जीवनधारा वाह्यतः अपने को ही सत्य और नित्य बतलाती रहती है। कुछ साहित्यिक स्वभावतः उसीको अपनी रचनाओं में केवल चित्रित ही नहीं करते बल्कि उपरांत उसे गौरवान्वित भी करते हैं और भावीकाल की ओर बढ़नेवाली जो गति-प्रवृत्तियाँ अस्फुट रूप से समाज में झाँकने लगती हैं उनकी सम्पूर्ण उपेक्षा करते हैं। वे साहित्य में यदि उन्हें स्थान देते भी हैं तो उनके महत्व को न समझने के कारण उन्हें लांछित करते हैं। यही लोग निरे प्रतिक्रियावादी साहित्यिक हैं। केवल अतीत की प्रशस्ति में ही इनकी कृतियाँ मुखरित हैं। वर्तमान के बीच खड़े होकर वे अतीत की ओर मुँह मोड़ कर ऐसा सोचते हैं कि अतीतकाल शाश्वतकाल की गोद में स्थिर बैठा है। हजार न चाहने पर भी अतीत से आश्रयच्युत हो वे अनागत भविष्य की ओर स्रोत में बहते-से चले जा रहे हैं—इस बात की चेतना भी उनमें नहीं है।

किन्तु इनके अलावा ऐसे साहित्यिक भी देखने में आते हैं जिनकी मानस चेतना में सामाजिक स्थिति का कुछ पूर्णांग-सा रूप प्रतिबिम्बित होता है। अर्थात् इनके साहित्य में समाज की विभिन्न ह्रासोन्मुख तथा उदीयमान शक्तियों का (अर्थात् समाज के शासक और शासित का, जो अबतक प्रभावशाली है और जो अभी तक प्रभावशाली नहीं हो पाये हैं उनका) यथार्थ चित्रण है। ये प्रभावशाली वर्ग के जीवन को व्यक्त करते समय उनकी विकृतियों को भी यथार्थ रूप से व्यक्त करते हैं। व्यक्तिगत रूप में किसी श्रेणी के प्रति आनुगत्य के बावजूद, भावीकाल के प्रतिनिधि उदीयमान श्रेणी के अन्दर जो कुछ महान और महत्वपूर्ण है उसे भी यथार्थरूप से रूपान्वित करने में वे पश्चात्पद नहीं

होते। इन साहित्यिकों को हम विचारशील यथार्थवादी (Critical Realists) साहित्यिक मानते हैं। यहाँतक कि प्रतिक्रियावादी और ह्रासोन्मुख वर्ग के प्रति आनुरक्ति और आनुगत्य के बावजूद विचारशील यथार्थवादी यथार्थ-साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं, एंगेल्स ने फ्रांसीसी कहानीकार बालजक की आलोचना में स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार किया है।

वे लिखते हैं कि "बालजक ने (जिन्हें मैं भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी जोलाओं से बहुत बड़ा यथार्थवादी समझता हूँ) अपने "कॉमेडी ह्युमैन" में फ्रांसिसी समाज का अत्यन्त आश्चर्यजनक यथार्थ इतिहास प्रदानकर उसमें, १८१५ ई० के बाद जो अभिजात श्रेणी प्रतिष्ठित हुई थी और जिसने फिर प्राचीन फ्रांसीसी शिष्टाचार और आदर्श को यथासंभव पुनः स्थापित किया था, उसके ऊपर उदीयमान वणिक् सम्प्रदाय के क्रमशः बढ़ते हुए दबाव का, १८१६ ई० से १८४८ ई० तक प्रायः साल दर साल आनुक्रमिक ढंग से वर्णन किया है। उनके विचार से इस आदर्श-समाज का अन्तिम अवशेष किस प्रकार इतर वित्तशाली वर्ग के सम्मुख धीरे-धीरे परास्त हो रहा था अथवा उसके द्वारा विकृत हो रहा था इसी का वर्णन उन्होंने किया है।......हाँ, बालजक राजनीतिक दृष्टि से राजतंत्री (लेजिटिमिस्ट) थे। उनकी यह महान् कृति 'भद्र समाज' के अपूरणीय क्षय के बारे में लिखी एक चिरन्तन शोक गाथा है। जो श्रेणी विनाश के अभिशाप से ग्रस्त थी उनकी सहानुभूति उस श्रेणी के प्रति थी। किन्तु यह सब होते हुए भी जिन नरनारियों के प्रति उनकी सहानुभूति सबसे गहरी थी, उन अभिजात व्यक्तियों को सक्रिय करते समय (उनके प्रति) बालजक का व्यंग (satire) जितना तीव्र हो उठा है, उनका उपहास जितना कटु हो उठा है, वैसा

और कभी नहीं हुआ। केवल उन सब लोगों का ही उन्होंने अकपट प्रशंसा के साथ वर्णन किया है जो उनके तीव्रतम राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी थे, जैसे क्लोयात्रसेंट मेरी' (Cloitre Saint Mary) के रिपब्लिकन वीरवर्ग जो उस समय (१८३०–३६ ई०) जन-साधारण के वास्तविक प्रतिनिधि थे।

इस प्रकार बालजक अपनी श्रेणीगत सहानुभूति और राजनीतिक संस्कारों के विरुद्ध जाने के लिए बाध्य हुए थे, उन्होंने अपने प्रिय अभिजात वर्ग के पतन के प्रयोजन को देखा और उन्हें उन्नततर भाग्य के लिए अनुपयुक्त चित्रित किया था; उन्होंने भविष्य के यथार्थ मनुष्यों को उस समय के लिए जहाँ रहना उचित था ठीक वहीं देखा था,—इसे मैं यथार्थवाद की अन्यतम श्रेष्ठ कीर्ति और चिरप्रिय बालजक के महत्तम लक्षणों में से एक समझता हूँ।"[1]

बालजक की रचना में जिस यथार्थवाद की प्रशंसा की गयी है उसे हम आलोचनात्मक यथार्थवाद कह सकते हैं। बालजक के बावजूद उनके उपन्यासों में तत्कालीन समाज के यथार्थ चित्र मिलने से ही वह यथार्थवादी साहित्य हो उठा है। इस दृष्टि से समाज-जीवन के अन्दर जब निष्क्रियता और अवसन्नता ही प्रबल हो उठती है उस समय उस जीवन का चित्रण भी यथार्थ-साहित्य माना जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के जीवन चित्रण को ही एंगेल्स पर्याप्त नहीं समझते थे, यह ऊपर आंशिक रूप में उद्धृत पत्र की अन्तिम पंक्तियों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। इस पत्र में मार्गरेट हार्कनेस के उपन्यास City Girl (शहर की लड़की ' की आलोचना के सम्बन्ध में एंगेल्स ने जो आपत्ति उठायी है वह यह है कि वह उपन्यास 'काफी यथार्थवादी नहीं

१ लिटरेचर एण्ड आर्ट (इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, १९४७) पृ० ४२-४३

है', सबसे अन्त में वे लिखते हैं कि "आपके पक्ष में मुझे मानना ही पड़ेगा कि लन्दन के 'ईस्ट एण्ड' के अलावा सभ्यजगत में और कहीं भी श्रमिक लोग कम सक्रिय प्रतिरोध करनेवाले, भाग्य के सम्मुख अधिकतर निष्क्रिय रूप में आत्मसमर्पण करनेवाले और हताश नहीं हैं। सक्रिय पहलू को अन्य रचना के लिए (स्थगित) रखकर श्रमिक श्रेणी के जीवन के निष्क्रिय पहलू के चित्र को देकर ही इस बार आपने जो सन्तोष कर लिया है उसके लिए आपके पास कोई युक्ति है कि नहीं मैं कैसे जान सकता हूँ?"[1]

परोक्ष रूप में एंगेल्स ने यहाँ पर, श्रमिक श्रेणी के जीवन में जो सक्रिय पहलू है उसे साहित्य में रूपायमान करने की आवश्यकता की ओर इशारा किया है। वस्तुतः समाज की विकासोन्मुख शक्ति का परिचय यदि किसी साहित्य में न रहे तो उस साहित्य को "पर्याप्त यथार्थ" नहीं कहा जा सकता। किन्तु यथार्थ मार्क्सवादी साहित्य स्रष्टा के लिए केवल यथार्थ वादी साहित्य की रचना ही--अन्ततः वर्तमान युग-संकट के समय में पर्याप्त नहीं है। वर्तमान युग का समाज-विप्लव विगत युग के अन्य सभी समाज विप्लवों से बिलकुल भिन्न प्रकृति का है, पहले ही इसकी ओर संकेत हो चुका है। अतएव नूतन समाजवादी समाज निर्माण को ही यदि वर्तमान वैप्लविक आदर्श मान लिया जाय तो मार्क्सवादी साहित्यिक को भी अपनी साहित्यसृष्टि के क्षेत्र में उस वैप्लविक आदर्श के अनुकूल जीवन-सत्य को प्रतिबिम्बित करने की जिम्मेदारी को स्वीकार करना पड़ेगा। इसी आदर्श

---

1 Engels' letter to Margaret Harkness, April, 1888 in Literature and Art (International Publishers) p. 42-43

को सामने रखकर गोर्की ने साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) का प्रवर्तन किया। वे कहते हैं कि "भविष्य के द्वारा दिक-निर्णय ही बालजक के और उन्नीसवीं शताब्दी के क्लासिकल यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद को विशिष्टता प्रदान करता है।"[1] जब तक समाजवादी समाज की स्थापना नहीं होती और समाजतांत्रिक जीवनादर्श वास्तव सत्य में परिणत नहीं होता तब तक यह जीवनादर्श समाज-मानस में एक स्वप्न के ही रूप में विराज सकता है। और तब तक साहित्यिक के लिए भी समाजवादी समाज का वास्तविक चित्र अंकित करना संभव नहीं है। किन्तु इतिहास के वर्तमान अध्याय में हम जिस जीवन को प्रत्यक्ष कर रहे हैं अधिकांश क्षेत्र में वह बूर्जुआ समाज का जीवन है और इसी कारण साहित्य भी बूर्जुआ जीवन को ही, बूर्जुआ समाज के भाव-भावना एवं आदर्श को ही प्रतिफलित करेगा। किन्तु बूर्जुआ समाज की अन्तर्निहित द्वान्द्विक प्रेरणा ही उसे अनिवार्य गति से विनाश की ओर ले जा रही है और उसी के गर्भ से भावी समाजवादी समाज के अविर्भाव की चेष्टा प्रकट हो रही है। इसीलिए वर्तमान युग के साहित्यिकों का क्रांतिकारी और प्रगति शील उत्तरदायित्व यह है कि वे इन सब अपरिस्फुट, नवीन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को प्रबल और परिस्फुट रूप में साहित्य में अभिव्यक्त करें तथा ह्रासोन्मुख पूँजीवादी जीवनादर्श की व्यर्थता को वास्तव जीवन-चित्र में प्रस्फुटित कर भावी संभावना की ओर मानव-मानस को सक्रिय करें।

---

1 Gorky and Socialist Realism in Soviet Literature, June 1946.

अवश्य यहाँ पर हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि मार्क्स के समय में जो समाजवादी समाज का आदर्श अनेक अंशों में भावी काल का स्वप्न मात्र था और जो भविष्यमुखी प्रगतिशील गति-प्रवृत्तियाँ अत्यन्त अपरिस्फुटित थीं आज प्रायः सौ वर्ष बाद वह समाजतांत्रिक जीवनादर्श स्वप्नमात्र नहीं है। दुनियाँ के छठे हिस्से में आज समाजतांत्रिक आदर्श स्वीकृत है और समाज-जीवन में वह आदर्श अनुसृत हो चला है। पृथ्वी के अन्य बहुत से देशों में भी समाजतांत्रिक जनतंत्र आंशिक रूप में प्रतिष्ठित हुआ है और पूँजीवादी देशों में भी समाजवादी आदर्श के लिए शोषित किसान-मजदूर और मध्यमवर्गी मेहनतकश लोगों में वैप्लविक संग्राम का प्रारम्भ हो गया है। अतएव वर्तमान युग के प्रगतिशील साहित्यिकों के लिए विनाशोन्मुख पूँजीवादी समाज के जीवन में जो व्यर्थता और निराशा घनीभूत हो उठी है केवल उसी का चित्रण करना ही एकमात्र कर्तव्य नहीं हो सकता। इस साहित्य को पूर्ण रूप से यथार्थ वास्तववादी साहित्य भी नहीं कहा जा सकता। समाजतांत्रिक जीवनादर्श की ओर जो गति-प्रवृत्तियाँ समाज जीवन में अत्यन्त प्रबल और स्पष्ट होती जा रही हैं उन्हें साहित्य में रूपायित करना आज साहित्यिक कल्पना के बाहर की वस्तु नहीं माना जा सकता। यथार्थवादी साहित्यिकों के लिए आज समाजजीवन की इस भावी संभावना के बारे में अचेतन अथवा उदासीन रहने को केवल प्रतिक्रियाशीलता ही नहीं माना जायगा, बल्कि मूलतः उसे यथार्थ-विमुख भीरुता भी समझा जायगा।

३१

साहित्य की इस उद्देश्यमूलकता (tendentiousness) के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों के मन में एक भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है। उनका विश्वास है कि उद्देश्यमूलक होने से ही कला और साहित्य से यथार्थ कलातत्व और साहित्य-त्व गायब हो जाते हैं और वह केवल सामयिक प्रचार में परिणत हो कर नी-'रस' और आनन्दहीन हो उठता है। आपाततः उद्देश्यमूलक साहित्य की नी-'रसता' और कलागत आनन्दसृष्टि की अक्षमता की चर्चा न कर विचार किया जाय कि साहित्य के साथ उद्देश्य-मूलकता का यथार्थ में कोई मौलिक विरोध है अथव नहीं।

जीवन मूलतः क्रियात्मक है और क्रियात्मक जीवन से ही मनुष्य के मन में नाना भाव-भावना और अनुभूतियों की उत्पत्ति होती है और समाज मानस तथा व्यक्ति मानस में रागात्मक जीवन की सृष्टि होती है। मानवीय क्रियमात्र उद्देश्यमूलक है, और इन उद्देश्यमूलक क्रियाओं के साथ विभिन्न देश काल में विभिन्न प्रकार की राग-विरागात्मक अनुभूतियाँ भी होती हैं। अगर साहित्य मनुष्य के इस रागात्मक जीवन का प्रतिफलन हो तो उस साहित्य में रागा-त्मक जीवन की अन्तर्निहित उद्देश्यमूलकता की अभिव्यक्ति भी अवश्य ही होगी। हमारे जीवन में जो भाव और अनुभूतियाँ अत्यंत अंगभीर हैं, उनके पीछे जो उद्देश्य हैं वे भी वैसे ही अंगभीर और क्षीण होंगे। किन्तु जो उद्देश्य अर्थात् जीवना-

दर्श हमारी सत्ता की गहराई से उद्भूत हैं उनके साथ सम्बन्धित भाव और अनुभूतियां भी वैसा ही गहरी और प्रबल आवेगयुक्त होने को बाध्य हैं। इसीलिए गंभीर और विराट जीवनादर्श को वर्जित कर कभी भी गंभीर और हृदयालोड़नकारी साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। दुनियाँ में जो साहित्यिक कृतियाँ आज भी श्रेष्ठ मानी जाती हैं, उनकी परीक्षा करने पर हमें सवत्र साहित्य की इस उद्देश्यमूलकता का परिचय प्राप्त हो सकता है। एवजेनी आल्माजोव की इस बात को मान ने में आपत्ति नहीं है कि "ऐसा कोई भी साहित्य नहीं है जो उद्देश्यमूलक न हो। सारा आधुनिक साहित्य उद्देश्यमूलक है। कोई साहित्यिक उद्देश्यवादी है अथवा नहीं सवाल यह नहीं है, वरन यह है कि किन उद्देश्यों का वह अनुसरण कर रहा है। आधुनिक साहित्य में उद्देश्यमूलक कला के प्रतिपक्ष में वे हैं जो उन सब समस्याओं से दूर रहते हैं जो हमारे विक्षुब्ध जगत् के मन पर अधिकार किये हुए हैं। आज लाखों मनुष्य भोजन चाहते हैं, काम चाहते हैं और जिन परिस्थितियों में वे सुन्दर को देख कर आनन्द प्राप्त कर सकें ऐसी परिस्थितियों की कामना करते हैं, उन के भाग्य के सम्बन्ध में ये लोग उदासीन हैं।"[1]

वर्तमान समय में इसी लिए इन आलोचकों की दृष्टि में वे सभी साहित्यिक रचनाएँ 'उद्देश्यमूलक'— अतः निकृष्ट और साहित्य कहलाने के अयोग्य मानी जाती हैं, जिन्हों ने समाज के शोषित, दलित दुर्बलों के भाव और भावनाओं को रूपायित करने में आत्मनियोग किया है। वे इस प्रकार के साहित्य को 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) कहकर साहित्य के क्षेत्र से निकाल देना

१ "हंस" (अप्रेल १ ४८) में एवजेनी आल्माजोव का 'साहित्य में उद्देश्यवाद' निबन्ध देखिये।

चाहते हैं। किन्तु किसी विशेष समालोचक के द्वारा उच्चारित दंडादेश ही साहित्य का चरम दंडादेश नहीं है; साहित्य के एक-मात्र विचारक वही लोग हैं जिनके लिए साहित्य रचा जाता है। और उद्देश्यमूलक होने के कारण यह भी मान लेना पड़ता है कि साहित्यमात्र श्रेणीविभक्त समाज के समग्र जीवन को प्रतिफलित करनेपर भी सभी श्रेणियों के जीवनादर्श का समर्थन नहीं करता, नहीं कर सकता। चेतन अथवा अवचेतन रूप में साहित्यमात्र ही किसी न किसी श्रेणी के भावभावना और आदर्श को प्राधान्य देने के लिए वाध्य होता है। इसी लिए साहित्य का सार्वजनीन आवेदन (appeal) मूलतः एक काल्पनिक व्यापार मात्र है।

हम जानते हैं कि साहित्य के सार्वजनीन आवेदन के विरुद्ध इस उक्ति को सुनते ही अनेकों का मन विलकुल विरुद्ध न भी हो तो भी कुछ विचलित अवश्य हो उठेगा। वे पूछेंगे कि तो क्या प्राचीन समय का साहित्य, आज के मनुष्य का भी जो आनन्द देता है वह मिथ्या है? यह तो सच हो ही नहीं सकता। सोफोक्लीस, शेक्सपियर, कालिदास, होमर, वाल्मीकि का साहित्य इसी सत्य का निस्संशय प्रमाण है कि साहित्य का स्थायी मूल्य है, उसका एक विश्वजनीन आवेदन है; साहित्य यदि श्रेणीगत होता तो साहित्य का यह जो युग-युगव्यापी आवेदन-सामर्थ्य है, वह संभव न होता। प्रतिपक्ष की यह आपत्ति आलोचना के योग्य है।

प्रथमतः हजारों वर्ष पूर्व के साहित्य के आवेदन-सामर्थ्य के स्वरूप को समझने के लिए हमें फिर मानव-समाज और संस्कृति सम्बन्धी विषय पर दृष्टि डालना चाहिये। इसके पहले 'चरम'

और 'शाश्वत' सत्य के सम्बन्ध में एंगेल्स ने जो आलोचना की है उसे भी स्मरण रखना चाहिये।

मानवीय ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र के बारे में आलोचना कर एंगेल्स इस सिद्धांत पर पहुँचे कि 'चरम' और 'शाश्वत' कुछ भी नहीं है। मनुष्य के ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति को सम्भाव्यता की दृष्टि से असीम मानने पर भी, वास्तविक क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से बौद्धिक शक्ति के सीमित होने के कारण और वह भी बाह्य परिस्थितियों के कारण सीमित होने से मानवीय ज्ञान किसी भी ऐतिहासिक मुहूर्त में चरम और सम्पूर्ण नहीं हो सकता; यह ज्ञान पुरुषानुक्रामिक रूप में अन्तहीन प्रगति के पथ अग्रसर हो सकता है. बस इतना ही। इसीलिए मानवीय ज्ञान में शाश्वत और अपरिवर्तनीय सत्य का उपलब्ध होना असंभव है। मानव-ज्ञान की प्रगति पूर्णता की ओर होने पर भी यह ज्ञान ऐतिहासिक विकास के द्वारा क्रमशः पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। मानवीय-विज्ञान का जो विभाग मानव जीवन की नाना दशा और सामाजिक सम्पर्क. आइन-कानून और शासनतंत्र के नाना रूप और धर्म-दर्शन, कला-साहित्य आदि की आलोचना करता है उन क्षेत्रों में चरम और शाश्वत सत्य का उल्लेख करते हुए एंगेल्स ने स्पष्ट कहा है कि इन क्षेत्रों मे विशुद्ध अपरिवर्तनीय सत्य का आविष्कार करने की चेष्टा को निष्फल ही कहा जा सकता है।[1]

प्रागैतिहासिक अविकसित श्रेणीहीन मानव-समाज की बात छोड़ देने पर हम देखते हैं कि मानव-समाज श्रेणीविरोध के द्वारा ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के नियमानुसार क्रमशः आगे की ओर विकसित होता हुआ श्रेणीहीन साम्यवादी समाज निर्माण की ओर

1 Anti Dühring p 130-38,180

बढ़ता जा रहा है। अतएव अब तक मनुष्य-समाज के इतिहास को हम श्रेणीविभक्त समाज का इतिहास कह सकते हैं। इसीलिए आजतक मानव समाज के किसी भी ऐतिहासिक स्तर को हम क्यों न लें, श्रेणीगत समाज-विन्यास के अलावा और कुछ भी नजर नहीं आता। श्रेणी-शासित समाज की संस्कृति भी इसीलिए श्रेणीगत संस्कृति के अलावा और कुछ भी नहीं हो सकी। धर्म, कला, साहित्य, दर्शन, कानून सभी में श्रेणीविशेष का जीवनादर्श ही प्रतिफलित हुआ है और श्रेणीगत प्रभुता के कारण उसी आदर्श को समग्र समाज के आदर्श के रूप में उपस्थापित किया गया है तथा समान्यरूप में उसी को समग्र समाज-मानस में संचारित भी किया है। श्रेणीविशेष की प्रभुता का अन्त कर विगत इतिहास कभी भी श्रेणियों का अन्त नहीं कर सका और इसी कारण—एक श्रेणी के स्थान पर दूसरी श्रेणी का प्रभुत्व कायम होने के कारण—श्रेणी-विभाजन और व्यक्तिगत सम्पत्ति की नीति अपरिवर्तित रहने से मानव सम्पर्कों में कोई भी मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। और इसीलिए श्रेणी-विभक्त मानव-समाज के मौलिक मानस-गठन में, उसके मनन और अनुभूति के स्वरूप में कोई भी मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। समाज-मानस में रागात्मक जीवन का कोई भी परिवर्तन न होकर, यह रागात्मक जीवन क्रमशः और भी विकसित और समृद्ध होता आया है। रागात्मक जीवन की क्रमाभिव्यक्ति अविच्छिन्न होने के कारण ही प्राचीन कला और साहित्य का आवेदन आज भी असंभव नहीं हुआ।

यहाँ पर कोई-कोई यह कह सकते हैं कि अगर किसी भावी काल में समाज में श्रेणीविहीन साम्यवादी सामाजिक जीवन की पूरी तौर से प्रतिष्ठा हो जाय तो श्रेणीविभक्त समाज की

कला, साहित्य, संस्कृति का कोई भी मूल्य और आवेदन नहीं रहेगा। इस आशंका के पीछे आंशिक सत्य हो सकता है किन्तु मूलतः यह आशंका भ्रान्त प्रतीत होती है। मानव समाज में नैतिकता के क्रमविकास के सम्बन्ध में एंगेल्स ने जो विवेचना की है उससे सांस्कृतिक जीवन के अन्य क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी एक साधारण सिद्धान्त का आभास मिल सकता है।

एंगेल्स कहते हैं कि "आजतक समाज ने श्रेणीविरोध के अन्दर ही संचरण किया है इसलिए नैतिकता सदा श्रेणीगत नैतिकता थी। इस नैतिकता ने शासकवर्ग के स्वार्थ और प्रभुत्व को न्यायसंगत कहकर उसका समर्थन किया है, अथवा ज्यों ही दलित श्रेणी पर्याप्त प्रबल हो उठी है त्योंही इस नैतिकता ने उस प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह का और दलितों के भावी स्वार्थों का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रणाली से मोटे तौर पर, मानवीय ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों की तरह नैतिकता के क्षेत्र में भी उन्नति हुई है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु हम लोगों ने अभीतक श्रेणीगत नैतिकता को अतिक्रम नहीं किया। जो यथार्थ मानवीय नैतिकता श्रेणीविरोधों को और चिंतन के ऊपर उनके जो प्रभाव हैं उनको अतिक्रम करती है, वह केवल समाज के उसी स्तर में ही संभव है जहाँ श्रेणीविरोध केवल परास्त ही नहीं हुआ है, बल्कि व्यवहारिक जीवन में भी विस्मृत हो गया है।"[1]

यथार्थ मानवीय नैतिकता केवल श्रेणीहीन समाज में ही सम्भव होने पर भी, श्रेणीविक्त समाज के अन्दर से ही नैतिकता का क्रमविकास और उन्नति होती है, एंगेल्स इस बात को मानते हैं। अतएव इस नैतिकता के श्रेणीगत होने के कारण विकृत होने पर भी उसके अन्दर श्रेणीविहीन समाज की यथार्थ मान-

१ Anti Dnhring p. 141.

वीय नैतकता का बीज निहित रहता है और श्रेणीहीन समाज के स्तर में यह बीज अपने यथार्थ और पूर्ण विकास को प्राप्त होता है, एंगेल्स का यही वक्तव्य है। अर्थात् श्रेणीगत होने पर भी नाना विकृतियों के बीच से होकर नैतिकता क्रमशः अग्रसर होकर अन्त में श्रेणीहीन समाज में पूर्ण विकसित होगी, यही एंगेल्स का सिद्धान्त है। श्रेणीगत संस्कृति के विकास के क्षेत्र में भी इसी युक्ति का प्रयोग कर हम यह कह सकते हैं कि श्रेणातग संस्कृति के बीच से होकर यथार्थ मानवता (Humanism) का आदर्श क्रमशः विश्वजनीनता की ओर अग्रसर हो चला है और श्रेणीहीन अर्थात् एक श्रेणी क द्वारा अन्य श्रेणी के शोषणों से मुक्त समाज में इस मानवता का आदश अपने परिपूर्ण विकास की प्रतीक्षा कर रहा है।

श्रेणीविभक्त समाज के अन्दर से होकर श्रेणीहीन समाज की ओर मनुष्य की अग्रगति की एक अखंड, अविच्छिन्न धारा है। इस अग्रगति के द्वारा मानवीय सत्य नाना प्रकार की विकृतियों के बावजूद क्रमशः विकसित हो पूर्णतर हो रहा है। इसीलिए प्राचीन साहित्य के अन्दर मनुष्य अपने मानवीय सत्य को देख पाता है। यूनानी कला और महाकाव्य के स्थायी आवेदन के सम्बन्ध में मार्क्स ने प्रश्न उठाकर जो उत्तर दिया है वह उल्लेखनीय है। वह कहते हैं कि "यूनानी कला और महाकाव्य सामाजिक विवर्तन के विशेष-विशेष रूपों के साथ जड़ित हैं, यह समझना कठिन नहीं है। ये सब अभीतक हमारे लिए रस बोध के उत्स क्यों हैं और किसी-किसी की दृष्टि से अप्राप्य मानदंड और आदर्श तक क्यों हैं, यही समझना कठिन है।" इस प्रश्न का उत्तर मार्क्स ने परोक्ष रूप में प्रश्न के द्वारा ही दिया है। वे कहते हैं कि "मनुष्य अगर बचकाना न हो जाय तो वह फिर शिशु नहीं

बन सकता। किन्तु क्या इसीलिए वह शिशु के अकृत्रिम भावों का उपभोग नहीं करता ?.......जिस अवस्था में मानव-जाति के शैशव ने अपने सबसे सुन्दर विकास को प्राप्त किया वह एक ऐसे युग के रूप में अपने चिरन्तन जादू क्यों न फैलाये, जो फिर कभी लौट नहीं सकता ?"[1]

किन्तु जो लोग शाश्वतवादी हैं वे ऐतिहासिक गति के द्वारा मानवता के आदर्श की पूर्णता की संभावना को नहीं मानते। उन लोगों की राय में मनुष्य के अन्तर्निहित मानवता का एक चिरन्तन, नित्य शुद्ध रूप है और किसी भी काल के अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न यथार्थवादी कलाकार और साहित्यिक के लिए उस रूप की उपलब्धि होना संभव है। उस नित्य मानवता का कोई विवर्तन, विकास नहीं है। इसीलिए उनकी राय में किसी भी काल के, किसी भी श्रेणी के मनुष्य में मानव के उस मानवीय सत्य को उद्घाटित कर दिखाना सम्भव है। उनके विचार में मानवीय सत्य एक नित्य अपरिवर्तनीय सत्य है। और इसी से यह सभी कालों के मनुष्यों में विराजमान है और सभी युगों के साहित्यिकों ने इस सत्य को अनावृत करके दिखाया है। इसी कारण साहित्य का आवेदन भी चिरन्तन होकर रहा है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए फ्रांसोआ मोरियाक जैसे शक्तिशाली लेखक भी अपने 'औपन्यासिक और उनके पात्रपात्री' नामक लेख में कहते हैं कि "जो परिवेश अच्छी तरह मालूम नहीं है, उसका जबरदस्ती वर्णन क्यों किया जाय ? असल में यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि किसी 'डचेज' को उपस्थित किया जा रहा है अथवा किसी वित्तवती महिला को अथवा किसी नौकरानी को, बल्कि असल बात तो यह है कि मानवीय सत्य पर पहुँचना

1 Literature and Art p. 19.

है:''''जिस सत्य को प्राप्त करना है वह एक अन्तःसलिला नदी की तरह है। उसे एक फैशन वाली अभिजात महिला के जीवन की ऊपरी सतह पर लाया जा सकता है, और ठीक ऐसे ही दारिद्र्य से पीड़ित एक नारी के जीवन की ऊपरी सतह पर भी। प्रत्येक व्यक्ति वहीं पर खोदता है जहाँ पर वह है, जहाँ उसने अपना जीवन बिताया है।''[1]

लेखक जिस सामाजिक परिवेश में परिपुष्ट एवं परिवर्धित होता है, उसी जीवन से सम्बन्धित अनुभवों को वह यथार्थ वास्तविकता के साथ साहित्य में रूपायित कर सकता है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। किन्तु केवल अपने सामाजिक अनुभवों को साहित्य मे रूपायित करने से ही प्रत्येक लेखक का कर्तव्य समाप्त हो जाता है. यह मार्क्सीय दृष्टि से समर्थन के योग्य नहीं है। समाज के किसी भी स्तर के जीवन को व्यक्त कर मैंने मानवीय सत्य को रूपायित किया यह कहकर कोई भी मार्क्सवादी साहित्यिक तृप्त नहीं हो सकता। किसी भी काल में, विशेष कर वर्तमान काल मे, जबकि समाज में श्रेणी विरोध तीव्रतम होकर अन्तिम संघर्ष के लिए दो श्रेणियों में—धनिक और सर्वहारा वर्गों में—केन्द्रित हो गया है, उस समय किसी भी श्रेणी के जीवन-चित्रण के द्वारा अथवा किसी भी वर्ग के भाव कल्पना-जगत् को रूपायित कर समाज की वैसविक अभि-व्यक्ति में सहायक होना असंभव है। शाश्वतवादी की तरह वे इस बात पर विश्वास नहीं कर सकते कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर नित्य अपरिवर्तनीय मानवता विराजमान है। प्रत्येक युग में समाज के किसी भी वर्ग के अन्दर मानवता का विकास होता है

१ Literature of the Graveyard by Roger Garaudy p. 18-19

यह बात सही नहीं है। प्रत्येक युग की प्रगतिशील भावना-कल्पनाएँ जिस विशेष वर्ग का आश्रय लेकर विकासोन्मुख होती हैं उस श्रेणी के जीवन को रूपायित करना ही प्रगतिशील साहित्यिक का कर्तव्य हो जाता है।

वर्तमान युग में बूर्जुआ समाज-जीवन ह्रासोन्मुख होने के कारण विकृति ही उसका वर्तमान यथार्थ स्वरूप है। अतः इस समाज के वास्तव-चित्रण के द्वारा एक साहित्यिक केवल जीवन का ध्वंसरूप अर्थात् मृत्यु, निराशा और विषाद के रूप को ही जीवन-सत्य के रूप में उपस्थित कर सकता है। बूर्जुआ समाज में, इस ऐतिहासिक युगसंधि में मानवता की चरम विकृति हुई है। इतिहास के पूर्ववर्ती विकास के स्तरों में श्रेणीगत विकृतियों के होते हुए भी जिस मानवता की आंशिक स्वीकृति थी आज वह भी निःशेष हो गयी। कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की भाषा में, "आधुनिक पूंजीवादी श्रेणी ने मनुष्य के साथ मनुष्य के नग्न आत्मस्वार्थ के अलावा, हृदयहीन 'नकद अदा' के बन्धन के अलावा और कोई भी बन्धन बाकी नहीं रखा है।......पूंजीवादी श्रेणी ने डाक्टर, वकील, पुरोहित, कवि, वैज्ञानिक को अपने वेतन-भोक्ता श्रमिकों में परिणत कर दिया है। पूंजीवादी श्रेणी ने परिवार के ऊपर से उसकी भावुकता के अवगुण्ठन को छिन्न कर दिया है और पारिवारिक सम्पर्क को एक आर्थिक सम्पर्क में परिवर्तित कर दिया है।

दूसरी ओर इस पाशविक शोषण के और उत्पादनपद्धति के विकास के फलस्वरूप सर्वहारा श्रेणी के द्वारा समाज की वैप्लविक प्रगति भावी नवसमाज के निर्माण की ओर आगे बढ़ने लगती है। इसलिए समाज की अग्रगति के नायक सर्वहारा लोग होते हैं। तीव्र संघर्ष के बीच से ये सर्वहारा लोग शोषण से मुक्त यथार्थ

मानवीय सम्पर्क की और यथार्थ मानवता की प्रतिष्ठा के लिए सक्रिय हो उठते हैं। इसी कारण इस युग के प्रगतिशील साहित्यिक को मानवीय सत्य के अप्रगतिशील रूप को दिखाने के लिए उस सर्वहारा के जीवन की ओर ही दृष्टिपात करना पड़ता है। जहाँ है वहीं पर रह कर किसी भी जीवन स्तर को खोदने से ही अन्तःसलिला मानवता की स्रोतस्विनी नहीं निकल सकती।

इसी कारण वर्तमान समय के मध्यमवर्गी लेखक सम्प्रदाय की प्रगतिशील साहित्य-साधना अत्यन्त कठिन और संकटपूर्ण हो उठी है। बहुत से मध्यमवर्गी लेखक पूंजीवादी श्रेणी के दासत्व में फँसने के कारण और उच्चवर्ग के साथ आत्मीयकरण (identification) के कारण तथा उसी श्रेणी के जीवनादर्श के द्वारा आच्छन्न होने से समाज के सर्वहारा के जीवन के साथ घनिष्ठरूप से युक्त नहीं होने पा रहे हैं। इसीलिए उनमें से अनेक फ्रांसोआ मोरियाक की तरह शाश्वत मानवतावादकी आड़ में आश्रय लेकर ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से आत्मवञ्चना में लिप्त हुये हैं और कोई कोई तो सर्वहारा के जीवन के साथ यथार्थ मार्मिक आत्मीयता स्थापित करने में असमर्थ होकर केवल उस जीवन का एक प्राणहीन रूप अंकित करने का प्रयास कर रहे हैं। बौद्धिक आग्रह होते हुए भी सर्वहारा के जीवन के साथ घनिष्ठ योग के द्वारा उनके रागात्मक जीवन में कोई रूपान्तर न होने से, उनकी प्रगतिशील रचनाएँ यथार्थ कलापूर्ण साहित्य नहीं होने पा रही है। इनके प्रयास प्रशंसनीय होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियाँ यथार्थ प्राणपूर्ण वास्तविकता का प्राप्त न होने से पाठक के हृदय को द्रवित और रसमय कर उनके अन्दर प्रदर्शित जीवनादर्श की ओर यात्रा

करने की प्रेरणा को जाग्रत नहीं कर सकती। इस प्रकार का उद्देश्य-मूलक साहित्य, प्रशंसनीय उद्देश्य के बावजूद 'प्रचार' मात्र है, साहित्य नहीं। केवल किसी मत और आदर्श का प्रचार ही साहित्य नहीं है, एंगेल्स द्वारा मार्गरेट हार्कनेस को और मिना काउटस्की को (नवम्बर २६, १८८५) लिखित पत्रों में स्पष्ट भाषा में यही व्यक्त किया गया है। उन्होंने लिखा है कि "हम जर्मन जिसे 'टेण्डेरोमन" (Tendezroman) कहते हैं, ग्रन्थकार के सामाजिक और राजनीतिक मतों को महिमान्वित करने के उद्देश्य से उस प्रकार का विशुद्ध समाजवादी उपन्यास आप ने नहीं लिखा। इसलिए मैं आप को दोषी नहीं कर रहा हूँ। मेरे वक्तव्य का उद्देश्य बिलकुल यह नहीं है। लेखक का मतामत जितना छिपा रहे कला की दृष्टि से वह उतना ही अच्छा है। मैं जिस वास्तविकता की ओर इशारा कर रहा हूँ, वह लेखक के मतामत की उपेक्षा कर के भी निकल आ सकती है।" [१क ख]

---

१ क Literature and Art p 37 (Engels to Margaret Harkness April, 1988)

१ ख Frederick Engels and Materialistic Aesthetics by Kurt Blaukopf in Modern Quarterly Vol I No 3. 1946. 'But even socialist novelists, so Engels believed, did not have to propound their views in novels. It is enough for them to depict real conditions faithfully and thus destroy the conventional illusions and at the same time arouse doubts concerning the eternal validity of the existing order. This aim he wrote to Minna Kautsky (1885) could be attained without directly presenting the reader with a solution of these problems and, in certain cases,

इस प्रकार के कृत्रिम साहित्य को लक्ष्य कर ही रवीन्द्रनाथ ने कहा था—

"जीवन में जीवन का संयोजन
न होने से कृत्रिम पण्य से संगीत का सौदा व्यर्थ हो जाता है।
किसान के जीवन में शरीक है जो,
वाक्य और कर्म से जिसने आत्मीयता का अर्जन किया है,
जो जमीन के नजदीक है
उस कवि की वाणी के लिए मैं कान लगाए हूँ।
साहित्य के आनन्द-भोज में
मैं जो नहीं दे सकता, नित्य मैं उसी की तलाश में रहता हूँ।
वह सत्य हो,
केवल भंगिमा के द्वारा आँखों को प्रतारित न करे।
यथार्थ मूल्य को न देकर साहित्य की ख्याति को चुराना
अच्छा नहीं, अच्छा नहीं! यह शौकिनी मजदूरी नकली है।[2]

---

even witnout indicating where the sympathies of the author lay".

२ जन्मदिने दशम कविता—रवीन्द्रनाथ।

३२

प्रगतिशील साहित्यिकों का क्रान्तिकारी उत्तरदायित्व है इसीलिए उन्हें प्रगतिशील श्रेणी के अन्दर ही मानवसत्य का अनुसंधान करना पड़ता है। फ्रांसोआ मोरियाक की तरह किसी भी श्रेणी में मानवसत्य को ढूँढ़ने का मोह उनके मन में नहीं रह सकता। इसीलिए प्रगतिशाल लेखक, विशेषतः मार्क्सवादी लेखक कभी भी अपनी श्रेणीगत प्रकृति को भूलकर श्रेणी निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करने की कल्पना नहीं कर सकते और किसी भी लेखक के लिए श्रेणी निरपेक्ष होना संभव है, यह भी विश्वास नहीं करते। फ्रांसोआ मोरियाक ने शाश्वत मानवसत्य के नाम पर साहित्यिक को श्रेणी-निरपेक्ष करन की माँग की है। आपकी राय में 'ज्ञानी और मूर्ख, श्रमिक और लेखक, फैशनेबल अभिजात महिला, श्रमिक नारी और हर प्रकार के नारियों के ऊपर हमारे तुच्छ दैनन्दिन कर्म जिन विकृतियों को लादते हैं, उन्हें अतिक्रम कर वह सत्ता स्पन्दित हो रही है, जो प्रत्येक युग में, सभी समय एक ही प्रकार रहती है। यह सत्ता दुःख को भोगती है, त्याग करती है, विद्वेष का अनुभव करती है, खून करती है अथवा अपने को बलि देती है।'[1] हमारे देश के रसवादी साहित्यिक भी इसी प्रकार बातें करते हैं। उनकी राय में रस-सृष्टि ही साहित्य का मौलिक लक्ष्य है और यह रस नित्य और 'अलौकिक' है। इसलिए रस-साहित्यिक समाज के किसी श्रेणी-

---

1. Literature of the Graveyard—R. Garaudy—P. 19.

विशेष के जीवनादर्श के प्रति आनुरक्ति अथवा आनुगत्य को स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझते; वह भी मोरियाक के 'मानव सत्य' की तरह जीवन के किसी भी स्तर को खोदकर उसमें से रस की फल्गु धारा को प्रवाहित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसके फलस्वरूप श्रेणी-निरपेक्षता की घोषणा के बावजूद रसवादी साहित्यिक रससृष्टि के नाम पर अपनी-अपनी श्रेणी के प्रति अनुगत्य को ही ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से व्यक्त करते जाते हैं, यह भी आज अत्यन्त स्पष्ट है। इसी से बहुत से रसवादी साहित्यिक आज समाज के ध्वंसोन्मुख और प्रतिक्रियाशील श्रेणी के जीवन को ही अपना आश्रय बनाने पर बाध्य हुए हैं और ह्रासोन्मुख (Decadent) साहित्य की सृष्टि करते जा रहे हैं। किसी-किसी प्रगतिशील समालोचक ने इसी कारण से साहित्य में रसवाद को प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त बतलाया है। रसवाद भारतीय आलंकारिकों का एक प्राचीन सिद्धान्त है। सरासर प्रतिक्रियावादी कहकर इस रसवाद का वर्जन करने के पहले इस विषय पर अच्छी तरह विचार करने की आवश्यकता है।

साहित्यिक और कलाकार का मानस-जीवन उनके सामाजिक जीवन से ही उद्भूत होता है और साहित्य में इसी मानस-जीवन के भाव और अनुभूतियाँ ही वर्ण, छन्द और भाषा में अभिव्यक्त होते हैं। फलतः साहित्यिक और कलाकार का काम मानस-जीवन का प्रतिफलन अथवा रूपायन है। प्रत्येक व्यक्ति अपने मानस-जीवन को ही अर्थात् इस विश्व-प्रकृति और मानव-समाज की जो प्रतिकृति उनके मानस में प्रतिफलित हुई है, केवल उसी को रूपायित कर सकता है। इसलिए किसी-किसी की राय में, साहित्यिक का एकमात्र कर्तव्य अपने अनुभव

को अभिव्यक्त करना है। फलतः साहित्यिक और कलाकार की समस्या विषय-वस्तु (Content) की समस्या नहीं है, समस्या अभिव्यक्ति अथवा रूपायन (Formal expression) की है। विषयवस्तु के प्रति उदासीनता और अभिव्यक्ति के गुरुत्व पर जोर देने की यह जो प्रवृत्ति है, इसके कारण के बारे में पीछे आलोचना की जायगी; ह्रासोन्मुख साहित्य का यही एक प्रधान लक्षण हो गया है।

लेकिन 'भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग' (भाव रूप में शरीर धारण करना चाहता है)—रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—यह जो कला और साहित्य की मौलिक प्रेरणा की बात व्यक्त हुई है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अभिव्यक्ति एक दुरूह साधना का फल है—भाषा के द्वारा, शब्दों के विशेष समावेश के द्वारा हृदय के भाव और कल्पना को यथार्थ रूप में दूसरों के मन में संचारित करना ही इस साधना का लक्ष्य है। इसीलिए हमारे देश के प्राचीन आलंकारिक इस शब्द-चयन और शब्द-समावेश के कौशल की आलोचना में इतने अधिक तत्पर थे। संस्कृत-साहित्य में केवल काव्य और नाटक—इन दो साहित्य-रूपों का विकास होने से इन्हीं के बारे में आलोचना की गयी है। प्राचीन साहित्य में कहानी का एकान्त अभाव न होने पर भी कहानी को आलंकारिकों ने आलोचना का विषय नहीं बनाया। आलंकारिकों में भरत सर्वप्राचीन हैं और भरत के नाट्यसूत्र का रचना-काल तीसरी-चौथी ईसवी अनुमान किया जाता है।[1] नाट्यसूत्र में रस-सम्बन्धी आलोचना होने पर भी "ध्वनिकार और आनन्द-वर्द्धन के पूर्ववर्ती (अर्थात् आठवीं और नवीं शताब्दी के पहले के) प्रायः सभी आलंकारिकों ने

१ काव्य-विचार—सुरेन्द्रनाथ दास-गुप्त—पृ० १८

काव्य के बारे में आलोचना की है···उन्होंने रस के सम्बन्ध में कोई विशेष आलोचना नहीं की···भरत के बाद के आलोचकों में केवल ध्वनिकार और आनन्द-वर्धन ने ही पहले यह बात कही कि नाट्य में जिस प्रकार रस का प्रयोजन है काव्य में भी उसी प्रकार रस का प्रयोजन है।"[२] 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (शब्द और अर्थ का साहित्य अर्थात् संगति ही काव्य है—भामह) 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' (शब्द और अर्थ का मिलन ही काव्य है—रुद्रट) 'तद्दोषौ शब्दार्थौ' (दोष-रहित शब्द और अर्थ ही काव्य है—मम्मट) इत्यादि काव्य-लक्षण से ज्ञात होता है कि हमारे देश के प्राचीन आलं·कारिकों ने शब्द-समावेश की रमणीयता को ही अर्थात् अभि·व्यक्ति की आलोचना को ही काव्यालोचना का प्रधान लक्ष्य बना लिया था।[3]

परन्तु रूपायन-कला की सूक्ष्म आलंकारिक आलोचना के अलावा हमारे प्राचीन साहित्य समालोचकों ने नाट्य और काव्य की विषयवस्तु के बारे में भी आलोचना की है। बहुत पहले ही भरत ने यह स्वीकार कर लिया था कि नाटक का उद्देश्य रस-सृष्टि करना है। अवश्य आठवीं, नवीं शताब्दी से ही ध्वनिकार और आनन्द-वर्धन के आलंकारिक ग्रन्थों में यह बात विशेष रूप से मानी जाने लगी कि काव्य का भी लक्ष्य

---

२ काव्य-विचार—सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त—पृ० ३४

३ भामह (५वीं से ८ वीं शताब्दी)

रुद्रट (९वीं से १० वीं शताब्दी)

मम्मट (१२ वीं शताब्दी)

रस है।[1] फलतः करीब एक हजार वर्षों से भारतीय आलंकारिकों में रस-सृष्टि ही काव्य का चरम लक्ष्य स्वीकृत होता आया है। यहाँ पर हम संक्षेप में भारतीय रस-सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

---

१ काव्य विचार पृ० ३४

३३

'रस इति कः पदार्थः ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्' रस वस्तु क्या है, वह आस्वादन-योग्य है—यह भरत की उक्ति है, रस-सिद्धान्त के सर्व प्रथम प्रवक्ता का कथन है। नाट्य और काव्य के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण है उसके मूल में रसास्वादन की प्रवृत्ति काम करती है, यह मुख्य बात है। 'रस्यते आस्वाद्यते (सामाजिकैः) इति रसः।' नाट्य और काव्य में श्रोता अथवा दर्शक किसी वस्तु का आस्वाद कर तृप्त होते हैं। उस आस्वादित वस्तु को भी रस कहा जा सकता है। लेकिन मूलतः रस-वस्तु चित्त की एक विशेष अनुभूति अथवा प्रतीति के अलावा और कुछ भी नहीं है। मधु को भी हम रस कह सकते हैं, किन्तु वस्तुतः जब तक किसी व्यक्ति के आस्वादन के द्वारा उसके चित्त में रसास्वादन नहीं होता, तब तक मधु के अन्दर रस के अनुमान करने की विशेष कोई सार्थकता नहीं है। रसास्वादन एक मानस-क्रिया है, इस मानस-व्यापार के एक प्रान्त में आस्वादन-कारी व्यक्ति है और दूसरे प्रान्त में आस्वाद्य वस्तु है। किन्तु रस-वस्तु के आस्वादन के लिए व्यक्ति की रसना अर्थात् आस्वादन की शक्ति का रहना अत्यन्त आवश्यक है। केवल रसास्वादन ही नहीं, किसी भी प्रकार की अनुभूति के लिए केवल बाह्य उपकरण का होना ही पर्याप्त नहीं है, आन्तरिक उपकरण के संयोग से ही अनुभूति व्यापार निष्पन्न हो सकता है। किसी व्यक्ति के मन में यदि भय का संस्कार ही न हो तो अत्यन्त भयानक

दृश्य के सम्मुख भी उस व्यक्ति के मन में भय की अनुभूति जाग्रत नहीं हो सकती। अतः भय की अनुभूति के जाग्रत होने के लिए जैसे कोई भयंकर दृश्य बाहरी कारण है वैसे ही भय का चित्त-संस्कार उसका भीतरी कारण है। किसी प्रकार की अनुभूति के मूल में एक बाहरी और एक भीतरी कारण का होना अनिवार्य है; इन दोनों में से एक भी न होने पर अनुभूति की प्रतीति संभव नहीं है; फिर भी भीतरी कारण को ही प्राधान्य दिया जाता है। यह जो चित्त-संस्कार है, इसी को हमारे देश के आलंकारिकों ने भाव, वासना, चित्तवृत्ति, सम्वित् नाम से अभिहित किया है।[1] यह सब भाव अथवा चित्त-वृत्ति विशेष ही रसास्वादन का मूल उपकरण है। मनुष्य के मन में जितने प्रकार की अनुभूतियाँ संभव हैं, प्राचीन आलंकारिकों ने उन्हें कई श्रेणियों में विभाजित किया है और उन्हें भाव नाम से अभिहित किया है। इन चित्तवृत्ति अथवा भावों में जो बहुल रूप में पाये जाते हैं, उन्हीं को स्थायी भाव कहते हैं।[2]

---

१ न जायते रसास्वादो विना रत्यादि वासनाम्—साहित्य दर्पण।

चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किञ्चित् यन्न चित्तवृत्ति विशेषमुपजनयति—आनन्दवर्धन।

भावशब्देन चित्तवृत्ति विशेषा एव विवक्षिताः—अभिनवगुप्त।

नहि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति—अभिनवगुप्त। दे० काव्यदर्पण—रामदहिन मिश्र—पृ० १२६

२ बहूनां चित्तवृत्तिरूपाणां भावानां मध्ये यस्य बहुलं रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः—काव्यदर्पण—पृ० ११९

मानवमन की रसानुभूति का आधार अथवा उपकरण स्वरूप यह जो चित्तसंस्कार, अथवा भाव[1] अथवा वासनाएँ हैं इनके सामाजिक क्रमविकास अथवा रूपान्तर के सम्बन्ध में प्राचीन आलंकारिकों ने कोई विचार किया ऐसा मालूम नहीं होता। वास्तव जीवन में हमारी नाना अनुभूतियों के मूलगत ये जो भाव हैं, जिन्हें अँग्रेजी में instinct और sentiment कह सकते हैं—वे सब सम्पर्कों से विच्छिन्न व्यापार नहीं हैं। भावमात्र का ही एक वास्तव कर्म-प्रेरणा का पहलू (Conative aspect) है और उस कर्म प्रेरणा के द्वारा ही भाव अपनी यथार्थ अभिप्रेत परिणति और सार्थकता को प्राप्त हो सकता है। प्राचीन आलंकारिकों ने जिन भावों को स्वीकार किया है उन्हीं को लिया जाय। उनकी राय में प्रधानतः नौ भाव हैं (अवश्य भरत ने केवल आठ भावों को ही स्वीकार किया था)—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद इन भावों से ही मनुष्य के मन में शृंगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्‍भुत और शान्त—इन अनुभूतियों की उत्पत्ति होती है। नाट्य और काव्य में ये प्राकृत (लौकिक) अनुभूतियाँ ही किस प्रकार असाधारण रसानुभूति में परिणत होती हैं उसकी आलोचना बाद को की जायगी। आरम्भ में हमारा वक्तव्य यह है कि इन अनुभूतियों पर विचार करने से हम देखते हैं कि ये अनुभूति-मात्र ही वास्तवसमाज के जीवन व्यापार के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। किसी भी अनुभूति की यथार्थता उसकी अभिव्यक्ति में होती है और जभी कोई अनुभूति प्रकटित होती है तभी वह हमारे सामाजिक सम्पर्कों के द्वारा हमें कर्म की ओर अनिवार्यतः प्रवृत्त करती है।

---

१ रसानुकूलो भावो विकारः—रसतरंगिनी (भानुदत्त)।

रस-गंगाधर प्रणेता जगन्नाथ (१७ वीं शताब्दी) कहते हैं कि हमारे चित्त में जो वासनाएँ चिरंतन स्थिर होकर हैं वे ही स्थायी भाव हैं! यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि वासनाओं को निराकार-रूप में कल्पना कर उनके लिए चिरन्तनत्व की माँग करना बिलकुल निरर्थक है। रति, भय, शोक आदि किसी भी भाव को लीजिए, इनकी कोई अमूर्त सत्ता नहीं है। प्रत्येक समाज के क्रम-विकास के साथ इन भावों का रूपान्तर होता जा रहा है और इसलिए यथार्थ अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अनुभूति का स्वरूप भी परिवर्तित होता जा रहा है। रसतत्त्व की आलोचना में अलंकारिक लोगों ने मानवचित्त के भाव-समूह के, फलतः भावराशि से उत्पन्न अनुभूतियों के क्रमविकास और उनके सामाजिक उत्तरदायित्व की बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया है।

आलंकारिकों ने अनुभाव के सम्बन्ध में जिस प्रकार आलोचना की है उससे यह बात और स्पष्ट हो जाती है। मानवमन में अनुभूति किस प्रकार उत्पन्न होती है उस विषय में आलंकारिकों को स्वतन्त्र आलोचना करनी चाहिए थी, क्योंकि रसवादी आलंकारिकों ने सामान्य लौकिक अनुभूति और 'अलौकिक' रसानुभूति में एक प्रकार के प्रभेद को स्वीकार किया है। पर ऐसा होने पर भी रसानुभूति की उत्पत्ति की जो मनस्तात्त्विक व्याख्या उन लोगों ने दी है उसी को यदि अन्य साधारण मानवीय प्राकृत अनुभूतियों को व्याख्या के रूप में ग्रहण किया जाय तो विशेष भूल की सम्भावना नहीं है।

भरत कहते हैं कि, 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र की नाना प्रकार

के भाष्य कर परवर्ती पण्डितों ने रसनिष्पत्ति के विभिन्न मत-वादों की स्थापना की है, ऐसा देखा जाता है। अस्तु, यहाँ पर हम 'अलौकिक-रस' (जिसे काव्यानुभूति अथवा Aesthetic emotion कहा जा सकता है) और 'लौकिक-रस' (जिसे साधारण अनुभूति अथवा Emotion कहा जा सकता है) इन दोनों क्षेत्रों में भरत की उपरोक्त उक्ति का प्रयोग कर उसके बारे में आलोचना करने की चेष्टा करेंगे। साधारणतः जब हमारे मन में कोई प्रबल अनुभूति उत्पन्न होती है तब उसके साथ ही और कुछ अन्य प्रकार की अनुभूतियाँ सामयिक रूप में उत्पन्न होती हैं। जब प्रत्येक अनुभूति के मूल में एक-एक प्रकार के चित्त संस्कार अथवा भाव के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, तो एक प्रबल मुख्य अनुभूति के मूलगत भाव के साथ ही साथ अन्य अप्रधान अनुभूतियों के मूलगत भावों को भी स्वीकार करना ही पड़ता है। इन्हीं भावों को आलंकारिक परिभाषा में संचारी अथवा व्यभिचारी कहा जाता है। प्रबलतम अनुभूति के मूल-गत भाव को स्थायी भाव कहते हैं। ये भाव आप ही से अनु-भूति के रूप में अभिव्यक्त नहीं होते : भाव को मौलिक कारण (Predisposing cause) कह सकते हैं, किन्तु उत्तेजक कारण (Exciting cause) के बिना वह भाव कभी अनुभूति में परिणत नहीं हो सकता। इन उत्तेजक कारणों में भी एक मुख्य उत्तेजक और अन्य सहकारी उत्तेजक कारण होते हैं : आलंकारिक परि-भाषा में इन्हीं को क्रमशः आलम्बन और उद्दीपन विभाव कहा गया है। अतः विभाव के द्वारा ही मनुष्य के अन्तर्निहित भाव विभावित अर्थात् अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अन्तिम अनुभूति अनुभवकारी में जिन बाह्य व्यापारों में प्रकटित होती हैं उन्हीं को अनुभाव नाम दिया गया

है। पर रसानुभूति के लिए अनुभवकारी का तटस्थ (द्रष्टा) रूप में रहना नितान्त आवश्यक है, व्यक्तिगत रूप से किसी अनुभूति के द्वारा अभिभूत होना रसानुभूति का एक प्रधान अन्तराय है अभिनवगुप्त ने ऐसा बताया है।[1] इसीलिए रसानुभूति के लिए अनुभाव-सम्बन्धी आलोचना में केवल कुछ निष्क्रिय भावाभिव्यक्तियों को ही अनुभाव के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु रसानुभूति के मुहूर्त में भले ही किसी अनुभूति की निष्क्रिय (Passive) अभिव्यक्ति क्यों न हो. ये अनुभूतियाँ ही फिर वास्तव जीवन में मनुष्य को सामाजिक कर्म की प्रेरणा देती हैं। उस ओर हमारे आलंकारिकों की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुई और इसीलिए इस बात की घोषणा विशेष रूप से नहीं की गयी कि साहित्य का मुख्य लक्ष्य रसानुभूति के द्वारा आनन्द देना तो है मगर चूँकि साहित्य स्थायी रूप में मनुष्य को अनुभूति के द्वारा प्रेरित कर विशेष विशेष कर्मों में प्रवृत्त भी करता है इसलिए रससृष्टि के क्षेत्र में साहित्यिक के सामाजिक उत्तरदायित्व की बात को कभी भुलाया नहीं जा सकता। फलतः अनुभूतिमात्र के अन्दर जो सामाजिक कर्म-प्रवृत्ति अनिवार्यरूप से अनुस्यूत (Implied) है उस ओर विशेष ध्यान न देकर रसवादी साहित्यक ने अनुभूति को कर्म-के दायित्व से मुक्त स्वयम्सम्पूर्ण (Self-contained) वस्तु समझकर उसी को जीवन की चरम साधना का विषय बना लिया है और साहित्य को सामाजिक कर्तव्य से मुक्त कर उसे 'अलौकिक' रस-साधना में नियुक्त किया है।

---

१ निज सुखादिविवशी भावः—अभिनव भारती नाट्यशास्त्र टीका, षष्ठ अध्याय।

३४

यह रसवाद हमारे देश में केवल एक साहित्यिक मतवाद मात्र नहीं था बल्कि रस-सिद्धान्त के आधार पर उसने एक चरम भाववादी (Idealistic) जीवन-दर्शन को भी जन्म दिया था। आशा है कि यहाँ पर उस ओर सामान्य इंगित करना अप्रासंगिक न होगा। भरत ने नाट्य-शास्त्र में रस को ही नाटक की लक्ष्य वस्तु माना है। उनकी आलोचना से यह भी साफ मालूम होती है कि उनके पूर्वगामियों में भी रस की पर्याप्त आलोचना होती थी। उनके बहुत पहले श्रुति में भी 'रसो वै सः' इस सूत्र में मनुष्य का चरम लक्ष्य रस स्वरूप की उपलब्धि करना है, इस बात की घोषणा मिलती है। परवर्ती काल में अभिनवगुप्त की आलोचना में यह रसवाद बहुत ही स्पष्ट और परिणत दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुआ और अन्त में बंगाल के वैष्णव और सहजिया सम्प्रदायों में इस रस-साधना की चरम भाववादी (Idealistic) परिणति हुई। रसवादी दार्शनिक की राय में इसीलिए भाव वास्तव-जगत् निरपेक्ष, देश-काल से परे एक अनादि और नित्य-वस्तु है। अलौकिक नित्य वृन्दावन में, अलौकिक भावदेह में, इन सब भावों को विभावित कर रसानुभूति को प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य हो उठा। यहाँ पर यह भी विशेष रूप से लक्षणीय है कि रसवादी वैष्णव धर्मतत्व में शृंगार-रस को ही आदि और चरम रस माना गया है और

भावलोक के इस चरम आदि रस की साधना ने, अनिवार्य रूप में, समाज में यौनसम्पर्क में विकृतियों का संघटन भी किया है। यौनवासना के उपभोग को परम आध्यात्मिक तत्व का रूप देने का युग बंगाल के सामाजिक जीवन की अधोगति का भी युग था, यह भी यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए। पराधीनता और सामन्ती व्यवस्था के कारण बंगाल का जन-जीवन जब नाना प्रकार से पगु और अक्षम था. जीवन के सहज सबल प्रकाश के अभाव में जब समाज की अन्तर्निहित भावराशि परितृप्त न होकर दमित थी, उसी समय बंगाली समाज अस्वाभाविक और कृत्रिम उपायों से रागात्मक जीवन को तृप्त करने के प्रयास में प्रवृत्त हुआ था। (वर्तमान समय में भी बँगला-संगीत की सरकारी बैठकों में और रेडियो, ग्रामोफोन और सिनेमा के मारफत जो अपूर्व प्रेम संगीत की बाढ़ चल रही है, उसके साथ वर्तमान ह्रासोन्मुख बुर्जुआ समाज का सम्पर्क भी दृष्टान्त के रूप में विचार करने योग्य है।) बंगाल की तांत्रिक साधना के विभिन्न रूप भी उसी का फल मालूम होते हैं। खैर, यहाँ पर तो बंगाल की रस-साधना हमारा आलोच्य विषय नहीं है। केवल रस-साधना जब सामाजिक सम्पर्क से अलग हो जाती है, तो वह मनुष्य को कितनी दूर अधःपतन की ओर ले जा सकती है, यह हमें भूलना नहीं चाहिए।

आलंकारिकों के अनुसार अनुभूति की मनस्तात्विक व्याख्या की आलोचना की गयी। अब उनकी राय में रस क्या है और रसानुभूति का मनस्तत्व क्या है, इसकी आलोचना की जाय।

व्यक्तिगत रूप से जब कोई शोक अथवा भय की अनुभूति हमारे मन में जाग्रत होती है, उस समय वह अनुभूति हमारे लिए क्लेशकर होती है और उसकी पुनरावृत्ति की कामना हम

कभी नहीं करते। किन्तु नाटक, उपन्यास अथवा काव्य में जब हम किसी भयानक अथवा शोकावह व्यापार को देखते हैं तो उस समय हमारे मन में जो अनुभूति होती है उसे हम व्यक्तिगत जीवन के अनुभूति का सजातीय कभी नहीं कह सकते। कितनी भी दुःखद अथवा भयानक अनुभूति क्यों न हो, वह काव्यगत अनुभूति हमारे चित्त को एक अपूर्व आनन्द रस से आप्लुत कर देती है। यही कारण है कि आलंकारिकों ने इसी काव्यानुभूति को रस अथवा रसानुभूति कहकर उसे लौकिक अनुभूति से भिन्न बताया था। यह रसानुभूति किस प्रकार से उत्पन्न होती है, 'रस-निष्पत्ति' किस प्रकार से होती है, इस सम्बन्ध में भरत ने जो बात कही है, परिवर्ती आलंकारिकों ने उसकी जो व्याख्याएँ की हैं, उनसे कई मतवादों का जन्म हुआ है। इनमें भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने यह समझाने की कोशिश की है कि लौकिक अनुभूतियों का काव्यगत वर्णन किस प्रकार रसानुभूति की विशेषता को प्राप्त होता है।

भट्टनायक के अनुसार काव्य शब्दात्मक है, अतः शब्दशक्ति के द्वारा ही काव्य पाठक अथवा श्रोता के हृदय में रसानुभूति को उत्पन्न करता है। भट्टनायक शब्द के तीन व्यापारों को मानते हैं—अभिधा, भावना और भोग। शब्द की अभिधा-शक्ति साफ शब्दों में उसके अर्थबोध के अलावा और कुछ नहीं है। जो भाव रसोत्पत्ति का कारण है, पहले शब्द के द्वारा वह भाव अर्थ के रूप में बोधगम्य होना चाहिए। शब्द की दूसरी शक्ति भावना है : शब्द के द्वारा जब किसी व्यक्ति की विशेष अनुभूति का वर्णन होता है, तो शब्द केवल उस विशिष्ट व्यक्ति की अनुभूति को ही व्यक्त नहीं करता, भावनाशक्ति की साधारणीकरण प्रक्रिया के द्वारा शब्द एक व्यक्ति-निरपेक्ष, साधारण सर्वमानव-सामान्य अनुभूति को भी व्यक्त करता है। फलतः

जब पाठक शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की प्रेमानुभूति का वर्णन पढ़ते हैं तो पाठक के चित्त-संस्कार में जो रतिभाव पहले ही से विद्यमान है वह शब्द की भोगशक्ति के द्वारा रसानुभूति के रूप में उपभुक्त होता है। मोटी बात तो यह है कि शब्द भावना-शक्ति के द्वारा व्यक्तिगत भाव को साधारणीकृत भाव में परिणत करता है और इसी से जो अनुभूति उत्पन्न होती है वह व्यक्ति-गत सम्बन्ध-रहित एक चमत्कार रसानुभूति में परिणत होती है। भट्टनायक के बोलने के ढंग को छोड़कर यदि हम उनके वक्तव्य पर ध्यान दें, तो यह मानना पड़ेगा कि उनके कथन में बहुत कुछ सत्य है। काव्य के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए भट्टनायक ने शब्द की जिन शक्तियों का उल्लेख किया, उसका मतलब आधुनिक भाषा में यह होता है कि शब्द अथवा भाषा कोई एकान्त व्यक्तिगत विषय नहीं है; भाषा एक सामाजिक उपज है। इसीलिए भाषा के द्वारा कितना भी व्यक्तिगत भाव और भावनाओं को क्यों न व्यक्त किया जाय, भाषा की सामाजिक प्रकृति के कारण ही वह भाव और भावनाएँ समाज की साधा-रण सम्पत्ति हो जाती हैं। इसी से दुष्यन्त की प्रेमानुभूति का वर्णन प्रत्येक सामाजिक मनुष्य के मन में एक मानव-सामान्य प्रेमानुभूति के आस्वादन को जाग्रत कर सकता है। भाषा के अन्दर व्यक्तिगत अनुभूति को सर्वसाधारण की अनुभूति में परिणत करने की जो 'भावना' शक्ति अथवा 'साधारणीकरण' है इसी के कारण पाठक के लिए दूसरों की अनुभूतियों को भोग करना संभव होता है।[1]

अब रसनिष्पत्ति के बारे में आलंकारिकों में जो मतवाद सबसे अधिक परिणत मालूम होता है, उसके सम्बन्ध में कुछ

---

१ भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणञ्चैतदेवयत् सीतादीनां कामि-

आलोचना करेंगे। अभिनवगुप्त ने 'रसनिष्पत्ति' शब्द का अर्थ रस की अभिव्यक्ति बताया है और इसीलिए उनके मतवाद को रस का अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है। रस शब्द की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'शब्दसमर्प्यमाण-हृदयसंवाद सुन्दर-विभावानुभाव समुदित प्राङ्निविष्टरत्यादिवासनानुराग-सुकुमार-स्वसंविदानन्दचर्वण व्यापाररूपो रसः' (ध्वन्यालोक) इस सूत्र का मूल वक्तव्य यह है कि काव्य के शब्द-समावेश के द्वारा मानव-हृदय में अव्यक्त रूप से वर्तमान भाव अथवा वासना विभाव-अनुभाव के द्वारा उद्‌बुद्ध होकर 'हृदय-संवाद' अर्थात् साधारणीकरण के द्वारा जो रसरूप में अभिव्यक्त होता है 'स्वसंविदानन्दचर्वणव्यापार' मात्र है। अर्थात् अभिनवगुप्त के विचार में भाव कुछ विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति मात्र है।[1] ये चित्तवृत्तियाँ एक ओर से संविद अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं, और दूसरी ओर से ये वासना-स्वरूप भी है, अतः आत्मज्ञान का आस्वादन ही रस है।[2] काव्य और नाटक में पात्र-पात्रियों की लौकिक अनुभूति ही काव्यगत विभाव-अनुभाव के संयोग से एक ऐसा साधारणी-कृत रूप धारण करती है कि वह काव्यनाटक के दर्शक पाठक अथवा श्रोता के हृदयगत भाव को (भट्टनायक की 'भावना' द्वारा नहीं) 'विभावना' के द्वारा आनन्दचर्वणव्यापार में अर्थात् एक अलौकिक रस में अभिव्यक्त करता है।

नीत्वादि सामान्योपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषावच्छिन्नत्वेन—काव्यप्रदीपटीका।

१ भावशब्देन चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः—नाट्यशास्त्रटीका सप्तमोऽध्याय अभिनवगुप्त।

२ संवेदनाख्य व्यंग्य [स्व] परसंवित्तिगोचरः। आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते—अभिनवगुप्त।

काव्यनाट्य-गत दुःखभय आदि अप्रीतिकर और दुःखद अनुभूतियाँ लौकिक दुःखभय आदि की अनुभूतियों के सदृश होते हुए भी सजातीय नहीं हैं, यह तो स्पष्ट ही समझा जा सकता है, किन्तु रति, क्रोध आदि की काव्यनाट्यगत अभिव्यक्ति से जो अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं उनसे लौकिक रति, क्रोध आदि अनुभतियों को बहुत से लोग पृथक् नहीं कर सकते। किन्तु प्रीतिकर हो चाहे अप्रीतिकर हो, लौकिक और काव्यनाट्य से उत्पन्न दोनों प्रकार की अनुभूतियों में जो प्रभेद है उसे थोड़ा विचार करने से ही समझा जा सकता है। लौकिक अनुभूति के क्षेत्र में अनुभव-कर्ता अनुभूति के नीचे दब जाने के कारण अपनी स्वतंत्रता को भूल जाता है। किन्तु रसानुभूति के क्षेत्र में अनुभव कर्ता अनुभूति से आच्छन्न होते हुए भी साथ ही उस अनुभूति के आस्वादक के रूप में अपनी स्वतंत्र-सत्ता की रक्षा करता है। रसानुभूति के इस द्वान्द्विक रूप को साधारण तर्क के द्वारा समझना सभव नहीं है, इसीलिए इस विषय में नाना प्रकार के वितर्कों की अवतारणा भी हुई है और रसानुभूति को 'अलौकिक' तक करार देने की कोशिश की गयी है, किन्तु इस तर्क का निरसन नहीं हुआ। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ तो करुण रसानुभूति की व्याख्या करने में असमर्थ होकर यहाँ तक कहने के लिए वाध्य हुए हैं कि 'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्, सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।' भगवद्भक्ति-रसायनप्रणेता मधुसूदन ने इस आनन्द-कारकत्व के कारण का निर्देश करते हुए कहा है कि—

> बोध्यनिष्ठा यथा स्वं ते सुखदुःखादिहेतवः
> बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः

अतो न करुणादीनां रसत्वं प्रतिहन्यते
भावानां बोद्धृनिष्ठानां दुःखाहेतुत्वनिश्चयात्।
—भगवद्भक्तिरसायन

साधारण लौकिक अनुभूति को रसानुभूति में परिणत करने के लिए केवल हृदय-संवाद अर्थात् सहृदयता अथवा अन्य के सदृश अनुभव करने की क्षमता का उल्लेख भरत ने नाट्य-शास्त्र में किया है।[1] किन्तु अभिनवगुप्त ने केवल हृदयसंवाद को ही रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं समझा। इसलिए उन्होंने साधारणीकरण व्यापार को स्पष्ट करते हुए कहा है, हृदयसंवादात्मक सहृदयत्वबलात् तन्मयीभावोचितचर्वणा प्राणतया...तद्विभावादि साधारण्यवश संप्रबुद्धोचित निजरत्यादि वासनावेशवशात्[2] दूसरे की अनुभूति को हृदयंगम करने के लिए 'हृदयसंवाद' की (अँग्रेजी में जिसे Sympathy अर्थात् सहानुभूति कहते हैं उसकी) एकांत आवश्यकता है, किन्तु काव्य अथवा नाट्यगत पात्र-पात्रियों के साथ 'तन्मयीभाव' (Empathy)[3] न होने तक उन पात्र-पात्रियों का हृदयावेग श्रोता पाठक अथवा दर्शक के चित्त को आलोड़ित नहीं कर सकता। लेकिन किसी-किसी भाव के द्वारा चित्त आलोड़ित होने से ही वह रसानुभूति को उत्पन्न नहीं कर सकता; यदि ऐसा होता तो हमारे व्यक्तिगत

---

१ योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
—नाट्यशास्त्र।

२ अभिनव-भारती

३ Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen. *Quoted in* काव्य दर्पण P. 167.

जीवन के सारे सुख दुःख ही काव्यगत सुख-दुःख की तरह रसात्मक अर्थात् तृप्ति अथवा आनन्द के कारण होते। इसीलिए हृदय-संवाद' और 'तन्मयीभाव' ही रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं; अनुभूति को रसानुभूति में पर्यवसित करने के लिए 'साधारणीकरण' होना चाहिए। अभिनव के अनुसार 'लौकिक-जगत् के साथ संबंध-विहीन, देश कालादि सम्बन्ध-विहीन और किसी व्यक्ति-विशेष के अनुभव के सम्बन्ध से रहित होकर केवल विभावादि द्वारा वर्णित व्यापार का चित्त में जो साधारण प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी का नाम साधारणीकरण है।'[1]

रस-प्रतीति के रास्ते में अभिनव ने सात विघ्नों का उल्लेख किया है, उन में साधारणीकरण के रास्ते में तीन विशेष बाधाओं का उल्लेख है। काव्यगत अनुभूति को स्वगत' अर्थात् स्वकीय अनुभूति समझना अथवा 'परगत' अर्थात् दूसरे की अनुभूति समझना और किसी विशेष देश अथवा काल का समझना यही पहली दो बाधाएँ हैं (स्वागतत्व परगतत्व नियमेन देशकालविशेषावेशः)। तीसरी बाधा है काव्यगत अथवा नाट्यगत विषयोपभोग के समय अपने व्यक्तिगत किसी सुख-दुःख के द्वारा प्रभावित हो जाना (निजसुखादिविवशीभावः) अनुभूति को देश-कालनिरपेक्ष रूप में आस्वादन करना ही साधारणीकरण का मूलतत्त्व है। मम्मट ने भी इसी व्यापार को लक्ष्य करके कहा है:—ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते गतसम्बन्ध विशेष परिहार नियमान ध्यवसायात् (काव्यप्रकाश)।[2] विश्वनाथ ने भी

१ काव्यविचार—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त पृ०—१४६

२ काव्यप्रकाश

पहले केवल तन्मयीभाव ही को रसानुभूति का कारण बताते हुये कहा है कि—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेन यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादि समुद्बोधः साधारण्याभिमानतः॥

परन्तु इसके बाद ही रसानुभूति को लौकिक हर्ष, शोक आदि से परे बताने के उद्देश्य से उन्हें यह भी कहना पड़ा है कि रसानुभूति के अन्दर स्वगतत्व अथवा परगतत्व रूप किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहता।[1] अतः रसानुभूति देश काल-व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में आस्वादन के द्वारा ही सम्भव होती है, अन्यथा नहीं। इसी पार्थक्य के कारण ही प्राचीन आचार्यों ने इसको 'अलौकिक' माना है और उसे 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर, तक बताया है। किन्तु वर्तमान समय में बहुत-से लोग भ्रम से साधारणतः 'अप्राकृत' और 'अतिप्राकृत' के अर्थ में ही अलौकिक शब्द का प्रयोग किया करते हैं।

१ परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।

रसानुभूति के अन्दर यह जो 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च' (अन्य की है भी, नहीं भी, मेरी है भी नहीं भी) ऐसा भाव विद्यमान है, इस द्वान्द्विकता को, इस आत्मविरोध को, द्रष्टा-दृश्य की भिन्नता के बावजूद जो एकात्मता है, उसको साधारण तर्क-युक्ति के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, इसीलिए आलंकारिकों ने रसानुभूति को अलौकिक बताने के अलावा और कोई उपाय न देखा। असल में गतिशील, परिवर्तनशील वस्तुमात्र के अन्दर यह द्वान्द्विकता और अन्तर्विरोध विद्यमान है: गतिशील वस्तुमात्र ही किसी भी मुहूर्त में है भी और नहीं भी; यह परस्पर-विरुद्ध व्यापार साधारण युक्ति के लिए अनधिगम्य होने पर भी, वास्तव सत्य के क्षेत्र में इससे साधारण और प्राकृत व्यापार सभवतः और कुछ भी नहीं है। अब तक गतिशील वस्तुजगत् के किसी भी व्यापार को हम लोगों ने 'अलौकिक' नहीं बताया है। भाव के क्षेत्र में भी यदि भाव के द्वान्द्विक स्वरूप को मान लिया जाता तो रस निष्पत्ति को लेकर इतने तर्कों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

भाव भी एक नित्य चंचल वस्तु है, यह भाव अपनी द्वान्द्विक प्रेरणा के द्वारा ही देशकालपरिच्छिन्न व्यक्ति-गत अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होने के साथ ही-साथ उस विशेष सीमा को पार कर आगे की ओर बढ़ता जाता है। मनन के क्षेत्र में ज्ञान जिस प्रकार परिच्छिन्न ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होते हुए भी इस देश काल के अन्दर से ही फिर असीम ज्ञान की अन्त-

हीन प्रगति को व्यंजित करता है उसी तरह भाव भी व्यक्तिगत अनुभूति की सीमा में प्रकटित होने पर भी वह एक असीम भाव को ही अभिव्यक्त करता है। भाव के इस बन्धनमुक्त स्वरूप की उपलब्धि ही रसानुभूति है। असीम और अपरिमेय ज्ञान की पूर्ण उपलब्धि जिस प्रकार किसी भी विशेष काल के अन्दर सत्य नहीं है, फिर भी इस ज्ञान की अन्तहीन प्रगति को हम मिथ्या नहीं कह सकते, उसी तरह भाव की अर्थात् हमारे अन्तर्निहित रागात्मक जीवन की अबाध और परिपूर्ण उपलब्धि भी कभी किसी विशेष देशकाल में सम्भव नहीं है। हमारे भाव भी समाज-सत्ता के विकास के साथ साथ क्रमशः विकसित और रूपान्तरित होते जा रहे हैं। काव्य नाटक साहित्य जब विशिष्ट देशकाल के अनुकूल विकास के द्वारा इस 'भाव' के अन्त हीन स्वरूप को व्यंजित करने में समर्थ होता है तभी वह हमारे रागात्मक जीवन को आंशिक रूप में (कल्पना में) बन्धनमुक्त कर सकता है और उसी अनुभूति को हम रसानुभूति के रूप में अस्वादन करते हैं।

लेकिन इस 'अलौकिक' रसानुभूति के अथवा रसोपलब्धि के नाम से हमारे देश के रसवादी एक बिलकुल अवास्तव अलीक भावलोक की ओर चल दिये हैं। हम जानते हैं कि चित्तवृत्ति, भाव अथवा वासना हमारे जीवन की वास्तव सत्ता से ही उद्भूत है। रती आदि वासनाओं को अनादि और स्थायी मानकर, उन्हें सम्पूर्ण बाह्य वास्तव-सत्ता-निरपेक्ष आध्यात्मिक वस्तु समझने के कारण हमारे देश के आलंकारिक इस बात को बिलकुल भूल गये हैं कि इन भावों का ऐतिहासिक रूपान्तर और क्रमिक विकास भी निरन्तर होता जा रहा है। उनकी दृष्टि में इसीलिए भाव का 'प्रकटित' अथवा 'अभिव्यक्त'

होना ही सम्भव है, उनका रूपांतर बिलकुल असंभव है। इस देश के वैष्णव और सहजिया आदि रसपन्थी साधकों के लिए इसीलिए भाव का शाश्वत रूप ही सत्य है, उस रूप की कोई भी ऐतिहासिक क्रमाभिव्यक्ति नहीं है। नित्य वृन्दावन की जीवन-लीला इसीलिए 'चिरन्तन' गोप बालक-बालिकाओं की अथवा गोप युवक युवतियों की प्रेम-चर्चा के अलावा और किसी रूप में विकसित नहीं हुई। और भी लक्ष्य करने की बात यह है कि रस-पन्थियों की रससाधना में केवल रति अर्थात् नर नारी की यौन-कामना पर आधारित भाव के आश्रय से ही चरम और परम रसोपलब्धि की चेष्टा की गयी है, अन्य किसी प्रकार के भाव को रससाधना में विशेष स्थान नहीं मिला है। और यही कारण है कि क्या साहित्यिक अलंकार-शास्त्रों में, क्या उज्ज्वलनीलमणि-जैसे भक्तिशास्त्र में नायक-नायिका भेद की और नाना प्रकार के यौन संभोग की प्रक्रियाओं की इतनी भरमार है।

मूलतः भाव समाज-सत्ता से उद्भूत हैं और समाजसत्ता में परिवर्तन होने के कारण समाज-मानस के ये भाव क्रमशः विकसित होकर नये-नये रूपान्तरों के सहारे पूर्णतर सार्थकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस बात को भूलने के कारण रस-वादी नित्यता और अपरिवर्तनीयता के बहाने भावों को अतीताश्रयी बनाकर उनके नवरूपान्तर को बाधाग्रस्त कर रहे हैं और समाज के भाव-जीवन के विकास को अतीत जीवन-प्रणाली में ही आबद्ध कर रखने की चेष्टा कर रहे हैं। रसवादियों की सबसे बड़ी भ्रान्ति भाव को समाज-निरपेक्ष वस्तु समझने में है। एक ओर से भाव समाजसत्ता से उत्पन्न है और दूसरी ओर से यही भाव अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त होकर मानव-समाज को

अनुभावों के द्वारा नये-नये कर्मप्रयासों में प्रवृत्त करता है और समाज को परिवर्तित कर स्वयम् भी परिवर्तित-रूपान्तरित होता जाता है। रसवादियों के लिए रसानुभूति एक अपूर्व नैर्व्यक्तिक आनन्दचर्वण है इसीलिए उसमें अनुभावों का सामाजिक कर्म-प्रेरकत्व बिलकुल स्वीकृत नहीं हुआ ; उन्होंने अनुभाव को केवल रसानुभूति की कुछ दैहिक और मानसिक प्रतिक्रिया के (स्वेद, पुलक, कम्प आदि के) रूप में ही देखा है।

परन्तु रसानुभूति को (क्योंकि अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रसानुभूति का जो वर्णन दिया है उससे यथार्थ रसोपलब्धि—जो कि ब्रह्मानन्द का सगा भाई है—'मुहूर्त' में ही सीमित हो सकती यदि उसी में समाधि न लग जाय!) कितना भी देशकाल निरपेक्ष क्यों न समझा जाय, यह किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता कि रसानुभूति के लिए कवि नाट्यकार अथवा कहानीकार को पात्र-पात्रियों में लौकिक रागात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को ही रूपायित करना पड़ता है और पाठक और दर्शक के मन में भी रति आदि लौकिक वासनाओं के आधार पर ही रसानुभूति को जाग्रत किया जाता है इसीलिए प्रत्येक काव्यनाटक तन्मयीकरण के द्वारा हमारे मन की वासनाओं को ही जाग्रत करता है और ये सब उत्तेजित वासनाएँ ही बाद को हमें नाना प्रकार के सामाजिक कर्मों की ओर प्रेरित करती हैं। आदिरसाश्रित कृष्णलीला का 'शाश्वत' रस कितना भी समाज-निरपेक्ष क्यों न हो, इस रस-कीर्तन ने प्राकृतजनों को उच्छृङ्खल कामुकता की ओर प्रवृत्त किया है, यह तो इतिहास द्वारा ही प्रमाणित है। इसीलिए ऐसा सुना जाता है कि रसकीर्तनके अनु-रागी स्वयम् श्रीचैतन्य ने रसकीर्तन को जनसाधारण के लिए निषिद्ध किया था।

३६

भरत से शुरू कर अन्य बहुत-से आलंकारिकों ने रसवाद को एक देशकालनिरपेक्ष सार्वजनीन मानवसत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है और अभिनवगुप्त से शुरू कर परवर्ती वैष्णव रसाचार्यों ने तो रसवाद को एक अतीन्द्रिय अध्यात्मसाधना में ही परिणत कर दिया है। किन्तु भावसाधना अथवा रससाधना को समाज-निरपेक्ष साधना के रूप में प्रचारित करने के बावजूद कोई भी मनुष्य इस सामाजिक सत्ता का अतिक्रमण नहीं कर सकता और इसीलिए देखा जाता है कि रसतत्त्व के ऊपर भी समाज की श्रेणीगत प्रकृति का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इसीलिए साहित्य को हम कितना भी नित्य और शाश्वत मानवता का प्रतिफलन क्यों न कहें, साहित्य भी श्रेणीगत साहित्य के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। हाँ, इस बात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि श्रेणीगत साहित्य-संस्कृति के अन्दर से साहित्य संस्कृति का एक श्रेणीहीन स्वरूप भी धीरे-धीरे अभिव्यक्त होता जा रहा है।

यहाँ पर क्रिस्टोफर कॉडवेल की 'माया और वास्तव' (Illusion and Reality) नाम की पुस्तक से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। वह कहते हैं कि 'श्रेणियों के पृथक्करण' (differentiation of classes) के फलस्वरूप एक ओर जिस प्रकार ऐसी शोषक श्रेणी की सृष्टि होती है जो वास्तविकता से क्रमशः विच्छिन्न होती जाती है, और अधिकतर रूप में चिन्तन,

विलासव्यसन और संस्कृति में व्याप्त रहती है, उसी तरह दूसरी ओर एक शोषित श्रेणी की उत्पत्ति होती है जो चिन्तन से क्रमशः और भी विच्छिन्न होती जाती है और और भी अधिक श्रम में लिप्त और और भी अधिक परिस्थिति का दास होती जाती है। कर्म का यह विभाजन पहले उपयोगी होने पर भी अंततः एक व्याधि का लक्षण हो जाता है। चिन्तन ने प्रथम अपने को कर्म से अलग कर लिया था, किन्तु यह (चिन्तन) केवल क्रमागत कर्म में लौटकर ही विकसित हो सकता है। यह चिन्तन कर्म को संचालित करने के उद्देश्य से ही कर्म से अलग होकर खड़ा हुआ था। एक बार ज्योंही शोषक श्रेणी नेतृत्व न करके केवल उपजीवी बन जाती है, त्योंही चिन्तन भौतिक वास्तविकता (material reality) से बिलकुल अन्तिम रूप में विछिन्न हो जाता है और वह निष्फल रूपवाद (formalism) अथवा बाल की खाल निकालनेवाली पंडिताई में परिणत हो जाता है।"[1]

भारतीय रसतत्व और साहित्य मध्ययुगीन परम्परा को लेकर ही परिपुष्ट हुआ है और सामन्तयुगीन श्रेणी-विभाजन-मूलक सारे भाव भावनाएँ गत एक हजार वर्ष के 'क्लासिकल'[2]

---

१ Illusion and Reality Indian Edition 1947-p. 33.

२ 'From about A. D. 300 wemay date the beginning of the classical Sanskrit literature, which is, in fact, what is commonly known as Sanskrit Literature. It may be distinguished as the literature which is dominated by aesthetic aim and theory'. F. W. Thomas in Legacy of India.

साहित्य में प्रकट होती आयी हैं, यह किसी साधारण पाठक से छिपी नहीं है। पिछले हजार डेढ़ हजार वर्षों के भारतीय समाज का साहित्य-शिल्प-संस्कृति अनिवार्यरूप से ही शासक सामन्त-श्रेणी की साहित्यशिल्प और संस्कृति रही है। इसी कारण इस साहित्य में समाज की अवकाश-भोगी शासक-श्रेणी के अकर्मण्य जीवन के ही भाव-वासनाएँ प्रतिफलित हुई हैं। उत्पादन-पद्धति के अपूर्ण विकास के कारण उस समय समाज के अधिकांश लोग श्रमदास मात्र थे और समाज के अभिजात सामन्तवर्ग को उस पराये श्रम के आधार पर अवकाश भोगने का अधिकार प्राप्त था; इसी से काव्य-साहित्य केवल इस अवकाश-प्राप्त सम्प्रदाय के मानसिक विलास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बन सका था।

यहाँ पर यह कहना बिलकुल हमारा अभिप्राय नहीं है कि श्रेणी-विभाजन से भारतीय समाज का अथवा भारतीय साहित्य-संस्कृति का विकास नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति-साहित्य का इतिहास करीब चार-पाँच हजार वर्षों के सामाजिक विकास का इतिहास है। वैदिक युग से प्रारम्भ कर भारतीय समाज और साहित्य-संस्कृति जिस प्रकार विकसित होती आयी है उसका इतिहास जैसा विराट है वैसा ही वैचित्र्यपूर्ण भी है। वह इतिहास आज भी सम्यक् रूप से नहीं लिखा गया है। साहित्य, दर्शन, विज्ञान में भारतीय समाज की देन असमान्य है किन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय समाज भी श्रेणी शासन का समाज था और अब भी है। इसीलिए अन्य देशों की तरह हमारे दर्शन, साहित्य में भी श्रेणीगत भावनाओं की छाप अनिवार्य-रूप से पड़ी है। विशेषरूप से भारतीय जातिभेद प्रथा यहाँ के कर्मवाद के सिद्धान्त से जिस प्रकार समर्थित हुई, ऐसा और

कहीं भी नहीं हुआ। इसके फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था के द्वारा भारतीय समाज में श्रेणी-शासन को नैतिकमर्यादा दी गयी। इन सब कारणों से भारतीय साहित्य उच्चवर्ण के प्रभुत्व को चिरस्थायी करने में सहायक हुआ है और साहित्य में उच्चवर्ण को ही गौरव के आसन पर बैठाया गया है और उसी को गौरवान्वित करने के लिए गौण रूप में मानव-जीवन के साधारण नैतिक आदर्श को भी महिमान्वित किया गया है।

भारतीय समाज में भी श्रेणीविरोध और संघर्ष के कारण श्रेणीगत प्रभुत्व में परिवर्तन हुए हैं; भारतीय इतिहास की मार्क्सीय आलोचना इस सत्य को क्रमशः हमारे सामने स्पष्ट करती जा रही है। किन्तु इन विरोधों के बावजूद, मोटे रूप में, एक बहुत ही लम्बे अर्से से भारतीय समाज-व्यवस्था में ब्राह्मण-प्राधान्य ही स्थायी रह आया है। इसलिये काव्य-नाटक में देशकालव्यक्तिनिरपेक्ष भाव को रसरूप में अभिव्यक्त करने का श्रेणी-निरपेक्ष आदर्श स्वीकृत होने के बावजूद इन 'भावों' को उच्चवर्ण के पात्र-पात्रियों द्वारा ही अभिव्यक्त किया गया है। भामह ने कहा है कि 'उपश्लोक्यस्य माहात्म्यादुज्ज्वलाः काव्य-सम्पदः,' रुद्रट की राय में 'उदारचरित निबन्धना प्रबन्धप्रतिष्ठा,' भोज ने कहा है कि 'कवेरल्पापि वाग् वृत्ति विद्वत्कर्णावतंसति, नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तार गुणोत्तरः।' किन्तु महान् चरित्रों का वर्णन करते समय कालिदास ने रघुकुल की प्रशस्ति रचना अथवा दुष्यन्त की तरह काम-प्रमोद प्रिय 'लोकोत्तर' चरित्र वर्णन को ही काव्य का लक्ष्य बना लिया है। बात साफ है कि रस को कितना भी जातिवर्ण निर्विशेष ब्रह्मास्वादतुल्य क्यों न बताया जाय, कार्यतः काव्यनाटक में शासकश्रेणी के जीवन को ही और उसके आदर्श को ही महिमान्वित करने की कोशिश

की गयी है और साधारण मनुष्यों की कोई भी महिमा और मर्यादा नहीं दिखलायी गयी है।[1]

अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग में साहित्य की भाषा सम्भवतः जनगण की भाषा थी, किन्तु परवर्ती समय में यह भाषा उच्च-वर्गीय अभिजात श्रेणी की भाषा हो गयी और पिछले एक हज़ार वर्षों से यह भाषा अत्यन्त स्वल्प-संख्यक उच्च वर्ण के लोगों की भाषा थी इसमें कोई सन्देह नहीं है। कवि और साहित्यिक को भी इसलिए विशेष रूप से राजदरबारों का मुँह ताकना पड़ा था और इसीलिए साहित्य में अवसर-प्राप्त धनी विलासप्रिय समाज के मनोरंजन की चेष्टा ही प्रबल हो उठी थी। साहित्य में आदिरस के प्राधान्य और वास्तव जीवन से

---

१ यद्यपि नाट्यशास्त्र में (प्रथम अध्याय श्लोक ११३) भरत ने कहा है कि लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्' तथापि पाठान्तर में यह भी लिखा गया है कि—

'देवानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥'

नाट्यशास्त्रम् पृ० ४०

(Central Libray, Baroda, 1926)

'दैवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥'

ना० शा० १ अध्याय, श्लोक १२१

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
सोऽगाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥

ना० शा० १ अध्याय, श्लोक १२२

श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

ना० शा० १ अध्याय, श्लोक १२४

विच्छिन्न कृत्रिमता के मूल में इस सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।[1]

परन्तु यह बात सत्य नहीं है कि प्राचीन अलंकार शास्त्र में काव्य का सामाजिक उद्देश्य बिलकुल अस्वीकृत था। 'लोकोपदेश-जननं नाट्यमेतद् भविष्यति' (नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय ११७) नाटक के इस भरत-निर्दिष्ट सामाजिक प्रयोजन को परिवर्ती आलंकारिकों ने भी स्वीकार किया है। किन्तु यह सामाजिक उद्देश्य कभी भी सामाजिक श्रेणी-वैषम्य का अतिक्रमण नहीं कर सका। इसके विपरीत नानाप्रकार से प्राचीन सामाजिक विधि-व्यवस्था को स्वीकार कर उन्हीं को बनाये

---

१ फरवरी ४६ के दूसरे हफ्ते में नयी दिल्ली में संस्कृत के विख्यात् फ्रांसीसी विद्वान् प्रोफेसर एल० रेनू (L. Renou—पेरिस विश्वविद्यालय के) ने एक भाषण में कहा कि 'Broadly Sanskrit literature appeared to be meant for the learned classes of society, poets, dramatists, philosophers and critics vying with one another in extravagance of phrases and ideas which while they made the literature rich and colourful, removed it from the reach of the common man." He is intensely interested in Vedic texts and he regards them as the only examples of Sanskrit works which are comparable to the Bible in their simplicity and they are perhaps, in his opinion, the only Sanskrit texts whicn show any closeness to the common people"
—From Delhi Causerie by Pertinax in National Herald Feb. 14, 1949.

रखने के उद्देश्य से ही 'लोकोपदेश' करने के लिए काव्य-नाटकों की रचना की गयी है और मध्ययुग के साहित्य ने इसीलिए विशाल सामाजिक जीवन को प्रतिफलित (भरत का 'लोकवृत्ता-नुकरण') न कर उच्च श्रेणी अथवा वर्ण के ह्रासोन्मुख जीवन के विकृत विलास-प्रमोदपूर्ण-जीवन को ही प्रतिफलित किया है।

साहित्य में यह जो विकृत भाव-विलासपूर्ण जीवन का प्रतिफलन है, वास्तव-विमुख होकर कल्पनाजगत् में ही वास्तव-जीवन की रति आदि वासनाओं के उपभोग का पलायनवादी प्रयास है, इनके लिए दायी रसानुभूति का सिद्धान्त नहीं, तत्कालीन श्रेणीगत सामाजिक वस्तुस्थिति ही है। वस्तुतः किसी भी काव्य-साहित्य के अन्दर हमलोग अपने रागात्मक जीवन को ही कुछ साधारणी-कृत भावों के रूप में आस्वादन करते हैं, हमारे आलंकारिकों के इस सिद्धान्त को बिलकुल झूठ कह कर मिटा देने का कोई भी कारण नहीं है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि रसवादियों की विकृति के जड़ में यह बात है कि उन्होंने रसानुभूति के साथ सामाजिक सत्ता के अविच्छेद्य सम्बन्ध पर बिलकुल विचार नहीं किया।

३८

'भावना' से हो चाहे 'विभावना' से हो, हमारे वास्तव-जीवन की लौकिक अनुभूतियाँ ही काव्य-नाटक में रसानुभूति के रूप में उपलब्ध होती हैं, इस बात को मान लेने पर भी काव्य-नाटक के पात्र-पात्रियों के चित्रण में कवि को लौकिक अनुभूतियों का ही चित्रण करना पड़ता है और उन अनुभूतियों के चित्रण को यथार्थ और वास्तवानुगत करना पड़ता है इस सम्बन्ध में संभवतः आलंकारिकों में विशेष मतभेद नहीं है। रससृष्टि के रास्ते में जिन बाधाओं का उल्लेख है उनमें अभिनव-गुप्त ने 'प्रतिपत्तावयोग्यता' अर्थात् असंभाव्यता या अविश्वास्यता का, 'प्रतीत्युपायवैकल्य स्फुटत्वाभाव' अर्थात् रवीन्द्रनाथ ने जिसे 'प्रत्यक्षगोचरता' कहा है, उसके अभाव का, और 'संशययोग' अर्थात् अनुभूति की सन्देहजनक व्यंजना का उल्लेख किया है। इसके अलावा प्रायः अलंकार ग्रन्थों में रससृष्टि के रास्ते में शब्दगत और अर्थगत नाना प्रकार की असंगतियों और त्रुटियों की आलोचना से भी मालूम होता है कि अनुभूति के यथार्थ प्रकाशन की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में सभी एकमत थे। किन्तु इन भावों अथवा चित्तवृत्तियों का उद्‌बोधन यद्यपि सामयिक रूप में स्वप्नलीन रसानुभूति को जाग्रत कर सकता है तथापि यही चित्तवृत्तियाँ मनुष्य को वास्तव जीवन में कर्म-प्रवृत्त करती हैं और इसीलिए रससृष्टि के अन्दर भी सामाजिक उत्तरदायित्व अवश्य अन्तर्निहित है, रसवादियों ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। अवश्य श्रेणीगत नैतिक आदर्श की

स्थापना, रावणादिवत् आचरण को त्यागकर रामादिवत् आचरण करने में प्रबुद्ध करना, काव्य का अन्यतम प्रयोजन है, इस बात को भी माना गया है। अवश्य साहित्य को सिर्फ 'प्रोपगैण्डा' (प्रचारकार्य) बना देने में मार्क्स ने जैसी आपत्ति की है उसी तरह भरत के—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनां
विश्रान्तिजननकाले नाट्यमेतद् भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥
—नाट्य शास्त्र, अध्याय १

इस श्लोक की टीका करते हुए अभिनव भी कहते हैं, 'ननु किं गुरुवदुपदेशं करोति, नेत्याह, किन्तु बुद्धिं विवर्धयति, स्वप्रतिभामेवं तादृशी वितरतीत्यर्थः।' अर्थात् नाट्य गुरु की तरह उपदेश करता है ऐसा नहीं, बल्कि मनुष्य की बुद्धि को बढ़ाकर उनकी प्रतिभा को बढ़ाता है। अभिनव की राय में काव्य अथवा नाटक कोई उपदेश नहीं देता, बल्कि प्रतिभा की वृद्धि कर गौण रूप में विशदता-उत्पादन कर, उसे अपने मंगल की ओर धावित कर उसकी सहायता करता है। दंडी, वामन, रुद्रट, उद्भट आदि ने भी मुख्य रूप से काव्य के उपदेश को काव्य का उद्देश्य नहीं बताया है।[1] कान्ता जिस प्रकार···अपने प्रेमी को अपनी ओर आकृष्ट करती है, काव्य भी उसी प्रकार रसस्फूर्ति के द्वारा उन्नत चरित्र को प्रकटकर वैसे चरित्र के प्रति

---

१ काव्यविचार—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—पृ० १४५

पाठक अथवा दर्शक को आकृष्ट कर सकता है।[1] प्राचीन आलंकारिकों में अनेकों का मत है कि काव्य की उपदेशोपयोगिता काव्य में वर्णित वस्तु के माहात्म्य और चरित्र माहात्म्य पर निर्भर होती है।[2]

अतः रसवादी काव्य का भी सामाजिक प्रयोजन और लक्ष्य है यह प्राचीन आलंकारिकों ने अस्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से मार्क्सवादी समालोचक की दृष्टि प्राचीन रसवादी साहित्यिक की दृष्टि से कुछ भिन्न होने पर भी एकान्त भिन्न नहीं है, किन्तु रसवादी दृष्टिकोण से मार्क्सवादी दृष्टिकोण जहाँ पर बिलकुल भिन्न है उसका जानना भी नितान्त आवश्यक है।

पहले कहा गया है कि मार्क्सीय दर्शन केवल चिन्तनात्मक दर्शन नहीं है, बल्कि एक क्रान्तिकारी कर्मात्मक दर्शन है। कर्म से ही मानव-मन में नाना भाव, भावना और मनोवेग मनुष्य को नवीन कर्मों में प्रेरित कर केवल बाह्य परिस्थिति में ही परिवर्तन नहीं ला रहे हैं बल्कि मनुष्य को अर्थात् उसके भावना-वासनाओं को भी रूपान्तरित कर रहे हैं। इसीलिए साहित्य केवल निष्क्रिय मानसिक रसास्वादन की वस्तु नहीं हो सकता; साहित्य का भी सामाजिक उत्तरदायित्व है और वह दायित्व केवल 'श्रुतिस्मृति सदाचार' की रक्षा करने का दायित्व नहीं है, केवल प्रचलित श्रेणी विशेष द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुगमन का दायित्व नहीं है, समाज के ढाँचे को आमूल बदल देने का

---

१ काव्य-विचार—सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—पृ० १४४
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये
सद्यःपरनिर्वृत्तयेकान्तासम्मितयोपदेशयुजे।—मम्मट

२ काव्य-विचार—पृ० १४७

दायित्व है। यह उद्देश्यमूलकता केवल मार्क्सवादी साहित्य का ही लक्षण हो ऐसी बात नहीं है; दुनिया के सभी साहित्यों में, सभी श्रेणियों के साहित्यों में उद्देश्य-मूलकता मौजूद है। श्रेणी-गत समाज के साहित्य में श्रेणीगत भाव-भावना आदर्श का प्रचार अनिवार्य रूप से होता आया है। विशेषतः वर्तमान जगत् में मुद्रण-यन्त्र, सिनेमा, रेडियो के आविर्भाव ने भाषा को एक असाधारण शक्तिशाली प्रचारयंत्र में परिणत कर दिया है। इसके लिए कोई व्यक्ति अथवा श्रेणी दायी नहीं है; समाज के ऐतिहासिक विकास ने ही आज साहित्य को श्रेणी-युद्ध का एक प्रचंड अस्त्र बना दिया है। फलतः विशुद्ध साहित्य आज केवल 'रस' साहित्य नहीं है; साहित्य ने आज जीवन के परिपूर्ण आस्वादन का भार ग्रहण किया है। 'भाव' आज केवल थोड़े-से एकान्त व्यक्तिगत विषयों में ही सीमित नहीं है। इसीलिए मार्क्सवादी साहित्य भी आज समाज में नवीन समाज-निर्माण के जो भाव, भावना, आवेग अस्फुट अथवा स्वल्प परिस्फुट हैं साहित्य में उन्हें रूपायित कर मानव-समाज के वृहत्तम अंश को प्रबुद्ध करना चाहते हैं। साहित्य में रससृष्टि को वह अस्वीकार करना नहीं चाहते, कलागत सौन्दर्य की भी वह उपेक्षा करना नहीं चाहते, किन्तु साहित्य के क्रान्तिकारी उद्देश्य को भी वह किसी भी कारण से कभी भूलना नहीं चाहते।

प्राचीन रसपन्थियों ने भाव अर्थात् मानवीय वासनाओं की नित्यरूप में कल्पना की है और उसीके साथ भावों के मध्ययुगीन रूप को भी अपरिवर्तनीय समझा है। इसीलिए प्राचीन रस-पन्थी पुरानी समाज-व्यवस्था और तदनुगत सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों को भी अपरिवर्तनीय समझने के लिए बाध्य हुए हैं। इसी कारण प्राचीन रसवाद के अनुयायी प्रगति-

विरोधी प्रतिक्रियावादियों के रूप में ही सामने आ रहे हैं। प्रत्येक युग में ही कुछ लोग होते हैं जो, अबतक जो कुछ हुआ है उसे समर्थन के योग्य समझते हैं और जो कुछ नवीन होने जा रहा है उसे समाज के लिए घोर अनिष्टकारी घोषित करते हैं। किन्तु समाज की प्रगति इस से अवरुद्ध नहीं होती। वाह्य परिस्थिति के बदलने के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होते जा रहे हैं और मनुष्य के रागात्मक भावों का भी रूपान्तर होता जा रहा है। जो जीवन्त साहित्य है वह रागात्मक जीवन के इस वास्तव रूपान्तर को ही प्रतिफलित करने के लिए वाध्य है। अवश्य सामाजिक परिवर्तन के साथ समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ प्रगतिशील भूमिका ग्रहण करती हैं और तब उन श्रेणियों के भाव और आदर्श ही समग्र समाज को प्रभावित और संचालित करते हैं। आज समाज स्वल्पसंख्यक परश्रमजीवी धनिक सम्प्रदाय के द्वारा शासित होने पर भी, इस बुर्जुआ धनिक सम्प्रदाय की प्रगतिशील भूमिका (role) खत्म हो गयी है; इसीलिए बुर्जुआ साहित्य-संस्कृति में आज जीर्णता, जरा और अवसाद के लक्षण प्रगट होने लगे हैं। बुर्जुआ-समाज-व्यवस्था अपने अन्तर्द्वन्द्व की प्रेरणा से ही आज अपना अन्त कर भावी समाजवादी समाज को जन्म देने जा रही है। राष्ट्र और समाज की नवजन्मधात्री सर्वहारा की क्रान्ति होगी।

इसीलिए आज इस सर्वहारा श्रेणी का—गरीब किसान और मजदूरों का—दलित शोषित जीवन और इस जीवन में धूमायित असन्तोष की क्रान्तिकारी चंचलता ही साहित्य के क्रान्तिकारी उपकरण होंगे। समाज के वृहत्तम अंश के इस यथार्थ जीवन-सत्य को अस्वीकार कर, उसे रूपायित करने की जिम्मेदारी को स्वीकार न कर, जो लोग आज भी मृत्यु-दंड

प्राप्त विनाशोन्मुख बुर्जुआ जीवन का गान करेंगे, शीघ्र ही उनकी रचनाएँ इतिहास के कूड़ेखाने में फेंकी जायँगी। प्रत्येक युग की प्रगतिशील श्रेणी से भाव और भावनाओं के द्वारा ही उत्तरोत्तर विकासशील यथार्थ मानवता का परिपोषण होता है, इसीलिए उस श्रेणी के साहित्य-संस्कृति में (आपेक्षिक रूप में) एक स्थायी आवेदन रह जाता है और श्रेणीगत साहित्य और संस्कृति के वाहन होने के बावजूद इसीलिए प्राचीन युग के महान् साहित्यिकों की रचनाएँ आज भी हमारे मन में 'यथार्थ मानवता' की अनुप्रेरणा को जाग्रत कर सकती हैं।

३८

अब प्रगतिशील सर्वहारा साहित्य के रूप के सम्बन्ध में सामान्यरूप में आलोचना करना शायद अप्रासंगिक न होगा।

हमारे देश में प्राचीन संस्कृत साहित्य की रचना जिस भाषा में हुई थी वह जनगण की भाषा नहीं थी, वह उच्च वर्गीय अवसर प्राप्त थोड़े से लोगों की भाषा थी, इसका प्रमाण उपस्थित करना अनावश्यक हैं। इसीलिए बहुत दिनों तक साहित्य की चर्चा एक संकीर्ण दायरे में ही सीमित थी और साहित्य जनगण के जीवन से भी विच्छिन्न रह कर केवल उच्चवर्गीय जीवन के ही भाव और भावनाओं को व्यक्त करता था। बाद को प्रादेशिक भाषाओं में साहित्य की सृष्टि होने से उस साहित्य ने अनेकों अंशों में समाज के बहुत से मनुष्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, इसमें भी सन्देह नहीं है। किन्तु शिक्षा के केवल धनी और मध्यम श्रेणी में ही सीमित रहने के कारण यह साहित्य विशेषरूप से केवल उच्च मध्यम श्रेणी के जीवन को ही प्रतिफलित करने में सक्षम हुआ है। देश के अशिक्षित मूक जनगण के साथ इस 'नागरिक' साहित्य का कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया। इस के पश्चात् अंग्रेजी शासन के युग में जिन प्रादेशिक साहित्यों का विकास हुआ है, वह विशेषरूप से शिक्षित सम्प्रदाय का ही साहित्य हो उठा है और वह साहित्य जनसाधारण के जीवन से बहुत दूर रहा है। भाव को व्यक्त करने की शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ भाषा में भी

एक ऐसी जटिलता आ गई जिससे वह अशिक्षित अगणित जनगण के लिए अत्यन्त दुर्बोध्य हो उठी है। अवश्य भाषा की उत्कर्षगत जटिलता के लिए साहित्यिक को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। किन्तु वर्तमान समय के साहित्यकार के लिए यह भाषा भी एक समस्या हो उठी है; क्योंकि साहित्य साहित्यिक के बनाये होने पर भी वह पाठकों के लिए बनाया जाता है, केवल साहित्यिक के आत्मप्रकाश और आत्मविनोद के लिए—स्वान्तः सुखाय—नहीं है। इतने दिन तो साहित्य अभिजात 'संस्कृतिवान्' उच्चवर्गीय लोगों का ही साहित्य था। इस साहित्य के प्रकर्ष के साथ-साथ उस श्रेणी के पाठकों का भाषाबोध भी क्रमशः विकसित और उन्नीत होता गया है और फिर पाठक श्रेणी के भाषाबोध के विकास के साथ साहित्यिक की भाषा भी रूपान्तरित हो जटिल बनती गई है। परन्तु आज साहित्यकार को जिस साहित्य की सृष्टि करनी है वह किन लोगों के लिए होगा ?

देश में अब भी पाठक श्रेणी उच्च मध्यवित्त श्रेणी से निम्न मध्यवित्त श्रेणी तक ही प्रसारित है और सौ व्यक्तियों में केवल आठ दस व्यक्ति को अक्षर ज्ञान है इस बात को स्मरण रखने से ही हमारे इस साहित्य का प्रचार और प्रसार कितना है समझा जा सकता है। तथापि देश की राजनीतिक चेतना के कारण संभवतः समाचार पत्रों की व्याप्ति साहित्य से बहुत अधिक हुई है और ऐसा मालूम होता है कि समाज के अशिक्षित निरक्षर और अक्षरज्ञान सम्पन्न शिक्षित लोगों के भाषाबोध में जो अन्तर और वैषम्य है, यह समाचार पत्र साहित्य ही उसे धीरे धीरे हमारे अनजान में दूर करता जा रहा है। आज अत्यन्त साधारण मजदूर किसान भी समाचारपत्रों के

लिए उत्सुक रहता है और स्वयम् पढ़ने में असमर्थ होने पर भी किसी न किसी पाठक की मध्यस्थता से वे समाचार पत्रों को समझने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण हमारे देश के समाचार पत्र साहित्य की भाषा को भी यथाशक्ति सरल और साधारण लोगों के समझने लायक बनाना चाहिए। आशा है हमारे सांवादिक सम्प्रदाय इस विषय पर ध्यान देनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

किन्तु जो विशुद्ध साहित्यिक—कवि, नाट्यकार और कहानीकार हैं, वे क्या करेंगे ? नाट्यकार को तो बहुत पहले से ही साधारण श्रोता और श्रोत्रियों के समझने योग्य भाषा की ओर ध्यान देना पड़ा है, क्योंकि रंगमंच और वर्तमान 'टॉकी' के जो सुनने वाले हैं वे विशेष रूप से 'शिक्षित' और 'संस्कृतिवान्' (cultured) श्रेणी के नहीं हैं, इसीलिए नाट्यकार को इन्हीं लोगों के समझने लायक भाषा में ही नाटक की रचना करना पड़ता है। अतः यह रंगमंच और 'टॉकी' की भाषा ही निरक्षर जनगण के भाषाबोध को पर्याप्त परिमाण में विकसित कर रही है और इस तरह विशुद्ध साहित्यिकों की भाषागत समस्या को भी कुछ अंश में हल्का कर रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु इसके बावजूद, हमारे सामने साहित्य क क्षेत्र में भाषागत एक कठिन समस्या है, इसे इनकार नहीं किया जा सकता।

असल में इस विशुद्ध साहित्य के माध्यम से ही हम रागात्मिक जीवन का आस्वादन करते हैं और इसी के द्वारा हमारे मन में नये नये भाव, कल्पना, प्रेरणाओं को जाग्रत कर साहित्य हमें सामाजिक जीवन के नवीन कर्मधाराओं में प्रवृत्त करता है। अतः वर्तमान युग के प्रागतिक साहित्य को केवल सर्वहारा जीवन के सुख दुःख वेदना और भावना आदर्श का चित्रांक करना होगा ऐसा नहीं, इस साहित्य को उन लोगों के

(सिर्फ उनके लिए कहा जाय तो भी बहुत अनुचित न होगा) बनाना होगा। लेकिन हमारे लेखक सम्प्रदाय प्राय: सभी शिक्षित मध्यवित्त सम्प्रदाय के सन्तान हैं और वे जिस भाषा के उत्तराधिकारी हैं वह गत सौ वर्ष में एक ऐसी जटिलता को प्राप्त किया है कि, यद्यपि इस भाषा में अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यंजना की शक्ति आई है तथापि यह भाषा जनगण के लिए नितान्त ही दुर्बोध्य है। लेकिन इस भाषा में प्रकाश-शक्ति कितनी अधिक हो गई है वह गत साठ सत्तर वर्षों के प्रसिद्ध लेखकों की भाषाओं की तुलनामूलक आलोचना करने से ही समझा जा सकता है। इस शक्तिशाली भाषा को छोड़ कर नितान्त साधारण जनगण के समझने लायक भाषा में साहित्य सृष्टि करने का अर्थ, इतने दिनों से क्रमश: विकसित होकर भाषा ने (चाहे वह भाषा स्वल्प संख्यक लोगों में ही सीमित क्यों न हो) जिस अपूर्व प्रकाशनैपुण्य को प्राप्त किया है उसे छोड़कर फिर भाषा के अपरिणत और अविकसित रूप से यात्रा का प्रारम्भ करना है।

एक दृष्टान्त लीजिए—

दुर्गम भीषण के उस पार
अन्धकार में ज्ञान की वरदात्री प्रतीक्षा कर रही है;
मानव की अभ्रभेदी बन्धन शाला ने
काले पत्थर की गथी हुई उद्धत चूड़ा को
सूर्योदय के पथ पर खड़ा किया है,
बहुशताब्दियों के व्यथित क्षतमुष्टि
रक्तलाञ्छित विद्रोह की छाप
लीप देती है उसके द्वारफलक पर,
इतिहास-विधाता का श्रेष्ठ सम्पद्
प्रच्छन्न है दैत्य के लौहदुर्ग में,

आकाश में देवसेनापति का कंठ सुनायी देता है—

आओ मृत्यु विजयी;
भेरी वज उठी,
तथापि इस निरापद निश्चेष्ट जीवन में,
रण-दुर्मद जाग नहीं उठा।
व्यूह को भेद कर
मैंने अपना स्थान नहीं लिया
युध्यमान देवलोक की संग्रामसहकारिता में।
केवल स्वप्न में मैंने सुना है डमरू की 'गुरुगुरु' ध्वनि
केवल बाहर के पथ से समरयात्रियों के पदकम्पन
आ मिला है मेरे हृत्स्पन्दन में। (रवीन्द्रनाथ)

जनसाधारण निरक्षरता और शिक्षाहीनता के कारण आज बौद्धिक विकास के जिस स्तर में है, क्या वहाँ पर कवि का इस वेदनाभरी भाषा का आवेदन पहुँच सकता है? अथवा लीजिए सर्वहारा के वैसचिक आदर्श से प्रेरित एक दूसरे आधुनिक प्रगतिवादी कवि की कविता का एक अंश—

एक कविता लिखी जायगी। उसके लिए
आग की नील शिखा की तरह आसमान
गुस्से में जलता है; समुद्र में दुरन्त तूफान
अपने डैनों को फड़फड़ाता है, बादल की
धूम्र जटा खुल जाती है; वज्र की ललकार से
जंगल में चंचलता, जड़ों में पतन का भय
सिर पटकता है,
बिजली मुँह फेर कर देखती है
उसके प्रकाश में आसपास में सर्वत्र
रक्त के लालदर्पण में भस्मलोचन

अपने चेहरे को देखता है।

उसके लिए एक कविता लिखी जाती है।

क्या इस कविता का तात्पर्य उन लोगों के समझ में आ सकता है जो भावी समाज का निर्माण करेंगे ?

हम साफ देख रहे हैं कि आधुनिकतम प्रगतिवादी के लिए अशिक्षित जनगण की भाषा में साहित्य की सृष्टि करना संभव नहीं हुआ। एक अविच्छिन्न स्रोत की तरह भाषा ने भी अर्थ-गौरव में, व्यंजना में जिस वेग और शक्ति को प्राप्त किया है उसे छोड़कर सर्वहारा के रिक्त जीवन की तरह भाषा को भी निरलंकृत रिक्तरूप में उपस्थित करना संभव नहीं है। श्रेणी विशेष के अन्दर सीमित रह कर भी भाषा ने जिस व्यंजनाशक्ति को प्राप्त किया है भाषा के लिए उसे एक स्थायी लाभ ही समझना होगा पूँजीवादी युग में उत्पादन पद्धति का जो विकास हुआ है, पूँजीवादी सम्बन्धों के वर्जन के साथ-साथ उसे जिस प्रकार छोड़ा नहीं जा सकता, उसी प्रकार बुर्जोआ सभ्यता की छत्रछाया में भाषा ने जिस प्रकाश-शक्ति को अर्जन किया है उसका भी परित्याग करना संभव नहीं है। इस शक्तिशाली भाषा को ही आज बृहत्तर मानवसमाज के जीवन-सत्य को रूपायित करने के काम में नियोजित करना होगा।

अवश्य ऊपर के दृष्टान्त से यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट है कि 'जनगण' शब्द से हम जिन्हें समझते हैं उनके लिए ऊपर की उद्धृत भाषा बिलकुल अबोध्य ही मानी जायगी। सुतराम् जब तक जनगण के अन्दर शिक्षा का विस्तार न होगा, तब तक बंगला में जो साहित्य गत सौ वर्षों से बनता आया है, उसकर आस्वादन उन लोगों के लिए कार्यतः असंभव ही रह जायगा। दूसरी ओर, जनगण के लिए आज बंगला भाषा अपनी सारी

विकासगत जटिलता को छोड़ बिलकुल रिक्तरूप धारण करेगी ऐसी कोई आशा अथवा आशंका भी नहीं है। शिक्षित श्रेणी की भाषा ही साहित्य में अग्रसर हो चलेगी, विषयवस्तु में चाहे कुछ भी परिवर्तन हो। जितनी जल्द हो सके जनगण को अगर साक्षर कर दिया जाय तो भाषावोध में यह जो व्यवधान है यह जनगण को अधिक दिन अतीत के साहित्य सम्पदा के उपभोग से वंचित नहीं रख सकेगा, शिक्षा विस्तार के फलस्वरूप रूस के साधारण लोगों में विश्व साहित्य के समादर की व्यापकता को देखकर हम दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सकते हैं। जनगण को शिक्षित न कर, उन्हें निरक्षरता, अशिक्षा और अज्ञान के अन्धकार में निश्चल रख कर, उनके वोधगम्य साहित्य सृष्टि के प्रयास को हम कभी पूर्णरूप से प्रगतिशील नहीं कह सकते।

वहुत से लोग ऐसा सोचते हैं कि अशिक्षित किसान मजदूरों का साहित्य नहीं हो सकता है। उनके लिए साहित्य विज्ञान दर्शन आदि की सृष्टि करना निहायत पागलपन है। इस सिलसिले में लेनिन के जीवन की एक घटना याद आ रही है। युवक लेनिन जब मार्क्स के जामाता लाफार्ग के साथ पारी में मिलने गये तो लेनिन अपने दल के साधारण मजदूरों को मार्क्सवाद समझाते हैं यह सुनकर लाफार्ग ने पूछा था 'क्या वे कुछ समझते हैं?' दृढ़निश्चित स्वर में लेनिन ने जवाब दिया था, 'हाँ'। परन्तु लाफार्ग को उस पर विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने उसे हँस कर उड़ा दिया। यद्यपि भाषा की जटिलता विषय को दुर्वोध्य वना सकती है, तथापि जीवन के अनुभव से जिन सत्यों का उद्भव होता है, उन्हें किसी साधारण व्यक्ति के लिए भी समझना संभव है और इसीलिए अत्यन्त गंभीर जीवनसत्य को भी साधारण लोगों के सम्मुख उपस्थित करने में कोई वाधा

नहीं है लेनिन के इस विषय में जरा भी सन्देह नहीं था। इस विषय में मार्क्स की भी ऐसी ही धारणा थी, एंगेल्स के एक पत्र से यह ज्ञात होता है। एंगेल्स ने अपने समय के और अपने दल के तरुण साहित्यिकों के प्रति इशारा करते हुए कहा था कि "यदि ये महाशय यह जानते कि मार्क्स किस प्रकार अपनी श्रेष्ठ वस्तुओं को भी श्रमिकों के लिए काफी अच्छी नहीं समझते थे और सब से अच्छी वस्तुओं के अलावा और कुछ देने का वह कैसा अपराध समझते थे !......"[1] इस सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ने जो मन्तव्य किया है यहाँ पर उसका भी उल्लेख किया जा सकता है। "शिक्षणीय विषय मात्र को बंगाल के सर्व-साधारण लोगों में व्याप्तकर देने" के उद्देश्य से 'लोकशिक्षा-ग्रन्थमाला' का जो प्रारंभ किया गया उसमें यह कहा गया कि "भाषा को सरल और यथासभव परिभाषा-वर्जित करना होगा।"[2] इस ग्रन्थमाला का प्रारंभिक ग्रन्थ 'विश्व-परिचय' लिख कर रवीन्द्र नाथ ने उसके उत्सर्ग पत्र में लिखा है कि " इसकी नाव अर्थात् इसकी भाषा आसानी से चले इस प्रकार चेष्टा इसमें है लेकिन सामान को खूब कम कर इसे हलका करना मैंने उचित नहीं समझा। दया करके वंचित करने को दया नहीं कहते। मेरा यह मत है कि जिन लोगों का मन अपरिणत है वे जितना संभव होगा लेंगे, न ले सकेंगे तो स्वयम् ही छोड़ते चलेंगे, परन्तु इसलिए पत्तल को प्रायः भोजन-शून्य कर देना सदाचरण नहीं है। चबा कर खाने से ही एक ओर से दाँत मजबूत होता है और दूसरी ओर, खाने का पूरा स्वाद मिलता है। मैंने इस पुस्तक के लिखते समय इस बात

१ Engel's Letter to Conrad Schmidt, Aug 5, 1890.

२ रवीन्द्र रचनावली (बंगला) २५ वाँ खंड, पृ० ४३७

को यथासाध्य भूला नहीं।'[1] हम जानते हैं कि लेनिन का भी मत इसी प्रकार का था।[2]

अतः सामयिक रूप में यथासंभव सरल भाषा में कुछ साहित्य की सृष्टि करने की आवश्यकता है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस बहाने सारे साहित्य को ही तरल कर साधारण के सम्मुख उपस्थित करना होगा यह सिद्धान्त भी सही नहीं है। जब तक शिक्षा के एक साधारण स्तर पर देश के सर्वसाधारण को नहीं लाया जायगा, तब तक सारे साहित्य को नीचे की ओर खींच लाकर जनसाधारण के लिए साहित्य सृष्टि करने की चेष्टा से विशेष सफलता प्राप्त होने की आशा नहीं है। इससे केवल अत्यन्त सरल होने के नाते कुछ रचनाओं को तात्कालिक प्रशंसा मिल सकती है किन्तु साहित्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति भाषा के उन्नत विकसित स्तर में ही संभव है। तथाकथित लोककवियों की रचनाओं की विषयवस्तु कितना भी समाज के दलित श्रेणी के, दीन दरिद्र समाज के, अवनत श्रेणी के जीवन पर आधारित क्यों न हो, तथापि उसे साहित्य के क्षेत्र में बहुत ऊँचा आसन नहीं मिल सकता है, ऐसा मालूम होता है।

---

१ रवीन्द्र रचनावली (बंगला) २५ वाँ खंड, पृ० ३५१

२ But while demanding that literature must be accessible to the working masses Lenin taught "not to fall into vulgarization, not to descend to the level of the undeveloped reader, but steadily to raise his level of development"—Soviet literature No 3, 1949.

३९

यथार्थ बात तो यह है कि स्वामी दयानंद के समय से (संभवतः राजा लक्ष्मणसिंह या भारतेंदु से भी कहा जा सकता है) हमारे साहित्यकारों के द्वारा जिस साहित्य की सृष्टि हुई है, वह मोटे रूप में जनसाधारण का साहित्य नहीं हो सका। उसने मानो धीरे-धीरे अभिजात साहित्य का रूप धारण कर लिया जिसके समझदार थोड़े हैं, अथच जिसकी मर्यादा बहुत अधिक है। लेकिन वस्तुतः हिंदी साहित्य की परम्परा संपूर्ण रूप से आभिजातिक नहीं है। हिन्दी का सन्त और भक्त साहित्य तत्कालीन जन-जीवन से विच्छिन्न रह कर नागरिक कुलीन साहित्य नहीं बना था। सूरसागर, रामायण, कबीर के पद अथवा अन्य राम और कृष्ण-काव्यों के भाव और भावना तत्कालीन समग्र समाज मानस में संचारित भाव-भावनाओं का ही प्रतिफलन था; इसलिए उस साहित्य ने समग्र समाज-चित्त को ही बहुत दिनों तक आन्दोलित किया है। और यह भी सच है कि इस प्राचीन साहित्य की भाषा ने जनगण के सामने भी किसी प्रकार-दुर्बोध्यता का दीवार नहीं खड़ा किया था। निरक्षर जनगण भी प्राचीन साहित्य का आस्वादन पूर्ण रूप से कर सकते थे, इस विषय में भी सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। फिर, यह भी कहा नहीं जा सकता कि प्राचीन साहित्य की भाषा बहुत अपरिणत अथवा नितान्त ग्राम्य थी। प्राचीन साहित्यिकों की भाषा के साथ जनगण के बोध का यह सम्बन्ध

किस प्रकार संभव हुआ था, हमें भूलना नहीं चाहिए। हम जानते हैं कि कीर्तन, कथावाचन, और रामलीला आदि के द्वारा केवल प्राचीन साहित्य की विषय वस्तु ही नहीं, बल्कि उसकी भाषा भी जनचित्त में संचारित हुई थी और इसी तरह, अन्तरयोग से न सही, श्रुतियोग से हिन्दी साहित्य का जो अध्ययन अध्यापन होता था उसके द्वारा जन-साधारण का भाषा बोध सचमुच विकसित हो चला था और इसीलिए तत्कालीन जनसाधारण, किसी हिसाब में, प्राचीन साहित्य की बैठक में अनुपस्थित भी नहीं था. उपेक्षित भी नहीं था।

किन्तु संभवतः भारतेंदु के समय से ही हिन्दी भाषा' "राज सभा की न हो. विदग्ध समाज की, शिक्षित समाज की बैठकों की आलोचना और आस्वादन की वस्तु हो उठी। स्वामी दयानन्द के समय से भाषा एक ओर से जिस प्रकार ज्ञान विज्ञान इतिहास इत्यादि नाना विषयों में व्याप्त होने लगी. उसी प्रकार दूसरी ओर से उसकी पाठकगोष्ठी भी संकीर्ण और संकुचित हो आई। हिन्दी साहित्य के ऊपर, अन्ततः श्रोता के रूप में इतने दिन गाँवों के 'अशिक्षित' नरनारियों का जो अनायास अधिकार था, इतने दिनों बाद अब वे उस अनायास अधिकार से च्युत हो कर साहित्य भोज की पंघत में बैठने के अयोग्य हो गये। कीर्तन और रामलीला, रासलीला की बैठकें शायद उन लोगों के लिए रह गईं किन्तु साहित्य का जो नवीन स्रोत आधुनिक काव्य नाटक और कहानियों में से प्रवाहित हुआ, अब वहाँ पर उन लोगों का प्रवेश अवारित नहीं रह गया।

आर्य समाज के भजनीक प्रचारकों की कृपा से हिन्दी में कुछ साहित्याभास जरूर साधारण जनता तक भी पहुँचता रहा पर उससे इस मंतव्य में विशेष परिवर्तन नहीं आता।

पहले के साहित्यकार भी नवीन भाषा और शैलियों की सृष्टि करते थे किन्तु साहित्य-प्रचारकों की मध्यस्थता से कानों के रास्ते जनसाधारण कुछ ही दिनों में भाषा के नवीन भाव और प्रकाश शैली के साथ परिचित हो जाते थे और जनसाधारण के भाषा बोध का स्तर भी ऊँचा होता जाता था। परन्तु नूतन हिन्दी साहित्य ने अपने पुराने प्रचारकों को खो दिया और जन-समाज से विच्छिन्न यह साहित्य संकीर्ण 'शिक्षित' गोष्ठी के लिखे पढ़े लोगों के मनोरंजन में लग गया। अंग्रेजी युग ने जिस मध्यवित्त सम्प्रदाय को जन्म दिया, उसी सम्प्रदाय से आधुनिक हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति हुई; यद्यपि उसका द्रुत विकास आश्चर्यजनक है, तथापि इसने हिन्दी के विशाल जनजीवन के साथ सम्पर्क को खो दिया। इस संस्पर्श-विहीनता ने जिस प्रकार जनगण के भाषाबोध को विकसित होने नहीं दिया, उसी प्रकार यह नागरिक साहित्य भी केवल मध्यवित्त सम्प्रदाय के साहित्य बन जाने से. समग्र समाज के, विशेषतः निम्नश्रेणी के अगणित जनसाधारण के जीवन-सत्य को भी प्रतिफलित नहीं कर सका।

इसी प्रकार से साक्षर शिक्षा के निदारुण अभाव के कारण और शिक्षा प्रचार की जो प्राचीन पद्धति थी उसके वर्जित होने के कारण वर्तमान साहित्य की भाषा और अशिक्षित साधारण लोगों की बोधगम्य भाषा के बीच जो निदारुण विषमता और व्यवधान आ गया है, वह आज दुरतिक्रम्य हो गया है। इसी से मध्यवित्त श्रेणी के नागरिक साहित्य की परम्परा में परिपुष्ट साहित्यिकों के लिए आज जनचित्त तक पहुँचने का पथ अत्यन्त कठिन और दुर्गम हो गया है। कवि और कहानीकार चाहे कितना भी प्रगतिशील साहित्य की रचना क्यों न करें, वर्तमान

युग की प्रगति के जो कर्णधार हैं उन किसान और मजदूरों के लिए उस साहित्य का अधिकांश ही बोधगम्य नहीं है।

इसी लिए आज भी साहित्य के क्षेत्र में जिन लोगों को हम प्रगतिशील साहित्यिक मानते हैं, वे अपने साहित्य को, समाज के श्रेणी-संघर्ष में जो लोग आज सब से आगे बढ़े हुए हैं उन्हें उद्बोधित करने के काम में नियोजित करने में असमर्थ हो रहे हैं। मध्यवित्त श्रेणी से आये हुए साहित्यिक मार्क्सीय जीवन दर्शन के सहारे और चित्त की सहानुभूति के द्वारा सर्वहारा श्रेणी के प्रति आनुगत्य को स्वीकार कर उस श्रेणी के संग्राम को और उसकी भावी संभावनाओं को परिस्फुट कर सकते हैं और संभवतः थोड़ा बहुत कर भी रहे हैं, किन्तु यह साहित्य भाषा की दृष्टि से केवल मध्यवित्त और उच्च मध्यवित्त शिक्षित श्रेणी को ही बोधगम्य हो रहा है, वह आज भी अशिक्षित श्रेणी को बोधगम्य नहीं हो सका। और इस दृष्टि से प्रगतिशील साहित्यिकों की रचना अनेकांश में अपनी यथार्थ सार्थकता को प्राप्त नहीं हो रहा है। परन्तु इस समस्या के समाधान किये बिना भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि मार्क्सवादी साहित्यिकों की जिम्मेदारी केवल प्रगतिशील वर्ग के जीवन पर आधारित साहित्य की सृष्टि ही नहीं है बल्कि प्रगतिशील श्रेणी को अपने स्वरूप और उत्तरदायित्व के बारे में सचेत करना भी है। अतः केवल शिक्षित मध्यवित्त श्रेणी के सम्मुख जनगण के जीवन को चित्रित करना ही उनका एकमात्र कर्तव्य नहीं है।

अवश्य सर्वहारा श्रेणी में से ही, किसान मजदूर वर्ग में से ही जिस दिन कवि नाट्यकार और कहानीकारों का आविर्भाव होगा, उसी दिन सर्वहारा की एकान्त अपनी भाषा में उसका साहित्य विकसित हो सकेगा, किन्तु जब तक ऐसा नहीं

हो रहा है, तब तक मध्यवित्त श्रेणी के (नहीं, उतना ही नहीं, सर्वहारा के वैसविक आदर्श के प्रति यथार्थ सहानुभूति और विश्वास रखने वाले किसी भी) साहित्यिक के लिए भाषागत इस समस्या को हल करने का प्रश्न है और रहेगा भी। इस समस्या को हल करने के लिए दो दिशाओं से कोशिश की जा सकती है।

हिन्दी का कहानी साहित्य विषयवस्तु की दृष्टि से 'चंद्रकान्ता' के कान्तार से सरक कर आज 'गोदान' के रास्ते से इस देश के सर्वहाराओं की ओर बढ़ता गया है, इस विषय को लेकर यहाँ पर विस्तृत आलोचना की जरूरत नहीं है। हमारे कवि, कथाकार और नाट्यकार जितना ही अधिक परिमाण में इन अगणित मूढ़, मूक शोषित मानवों को विषय वस्तु के रूप में ग्रहण करेंगे और उन्हें वास्तव रूप में व्यक्त करने की कोशिश करते रहेंगे, साहित्य उतना ही जनगण के व्यापक जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करने के कारण जनगण के लिए बोधगम्य हो उठेगा। अवश्य निरक्षर और दरिद्र जनगण के सम्मुख संगीत, कविता और लोकनाट्य के जरिये ही साहित्य के आवेदन को पहुँचाना आसान होगा। किन्तु साहित्य-पाठ-सभाओं के आयोजन कर, नवीन कथावाचन पद्धति की सृष्टि करके भी वर्त्तमान कथा-साहित्य को साधारण श्रोताओं के लिए बोधगम्य किया जा सकता है। साहित्य स्रष्टाओं की सहयोगिता से यदि हमारी पुरानी कथावाचन की प्रथा को आधुनिक रूप देकर फिर समाज में व्यापक रूप में चलाया जाय तो संभवतः देश के मूक जनगण के चित्त को उद्बोधित कर उनके भाषा-बोध को आशातीत शीघ्रता से विकसित किया जा सकता है।

जितना जल्द संभव हो सके देश के नरनारियों को साक्षर

बनाने से ही (केवल हस्ताक्षर करने लायक नहीं, पढ़ने लायक बनाकर) भाषाबोध का विकास सबसे अच्छी तरह किया जा सकता है, इसके कहने की तो कोई जरूरत ही नहीं। किन्तु देश की वर्तमान पूँजीवादी राष्ट्र व्यवस्था में शिक्षा की द्रुत प्रसारित करना कहाँ तक संभव है, कहना अत्यन्त कठिन है। जब तक यह व्यवस्था कार्यकारी नहीं होती, तब तक साहित्य-कर्मियों को श्रुतियोग से साधारण पाठकों के भाषाज्ञान को बढ़ाने के उपायों को निकालना उचित है।

४०

साहित्य में भाषा के प्रश्न पर और भी गंभीर रूप से विचार करने की आवश्यकता है। साहित्य में भाषा का प्रश्न उसकी विषयवस्तु के प्रश्न से अलग नहीं है; विषयवस्तु के साथ इस भाषा का एक अविच्छेद्य सम्बन्ध विद्यमान है। भाषा साहित्यस्रष्टा और साहित्य के श्रोता अथवा पाठक के बीच योगायोग का सेतु है। साहित्यिक जिस भाषा में अपने को व्यक्त करते हैं, वह भाषा केवल उनके एकान्त व्यक्तिगत आत्मप्रकाश की भाषा नहीं है, वह भाषा उद्दिष्ट पाठक अथवा श्रोताओं की भी भाषा है। साधारणरूप में किसी भी भाषा को उस भाषा के बोलने वाले जनसमाज के भावों को व्यक्त करने का साधारण माध्यम मानते हुए भी, यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वह विशेष विशेष युग में समाज की किसी न किसी विशेष श्रेणी के भाव और भावनाओं को केवल प्रतिबिम्बित ही नहीं करती बल्कि वह भाषा उस समाज के विशेष वर्ग में सीमित भी हो जाती है। भाषा का यह वर्गीय रूप केवल उसकी विषयवस्तु में ही प्रतिफलित नहीं होता, भाषा की अपनी शैलियों में भी यह वर्गीयरूप प्रकटित होता है। वर्गीय विषमता के कारण समाज की विभिन्न श्रेणियों की शिक्षा-संस्कृति में भी विषमता अनिवार्य हो जाती है और इसी कारण समाज के विभिन्न स्तरों में भाषा की विषमता भी अवश्यम्भावी है। इसीलिए साहित्य की भाषारीतियों में लेखक के अभीष्ट पाठक सम्प्रदाय का स्वरूप भी अनिवार्य-

रूप से प्रकट होते देखा जाता है। किसी भाषा के रीतिगत परिवर्तन के मूल में इस श्रेणीसम्पर्क का प्रभाव देखा जा सकता है।

मिसाल के रूप में हिंदी भाषा में 'प्रियप्रवासी' भाषा के आविर्भाव को लिया जा सकता है। 'प्रिय प्रवास' के आविर्भाव के बहुत पहले से ही इस प्रान्त में बोलचाल की एक भाषा थी और उस भाषा में जनसाधारण अपने सुख दुःख, भाव व भावनाओं को भी व्यक्त कर सकते थे, केवल इतना ही नहीं, हिन्दीसाहित्य के अन्दर भी उसी भाषा की एक रीति अन्ततः काव्य के भीतर विकसित हो उठी थी। वह भाषा मूलतः साधारण जनगण की बोलचाल की भाषा के साथ युक्त थी, इसीलिए भक्ति-कविता, रामायण, महाभारत आदि की भाषा जनगण के लिए समझना आसान था. किन्तु यह नई भाषा अकस्मात् उस भाषा से एक अद्भुत तरीके से अलग हो गई। इसका कारण यह नहीं था कि हिंदीभाषियों के पास कोई सरल साहित्यिक-भाषा का ढाँचा मौजूद नहीं था; इसका कारण नव्य शिक्षित उच्चवर्गीय लोगों के साथ साधारण जनगण का विच्छेद था। इसीलिए संस्कृतबहुल भाषा ने केवल पाठक और श्रोताओं के समाज को सीमित संकुचित ही नहीं किया, उस भाषा ने समाज के सभी श्रेणियों के चरित्रों के लिए आत्मप्रकाश को भी असंभव कर डाला था। उच्च अभिजातवर्ग के वार्तालाप के अलावा निम्न-मध्यवित्त सम्प्रदाय के भाव भावनाओं को व्यक्त करना भी उस भाषा में सहज नहीं था।

अंग्रेजी युग के नवीन हिंदी साहित्य को मोटे रूप में देश के अत्यन्त साधारण जनगण के जीवन से विच्छिन्न मानते हुए भी इस बात को भी मानना पड़ता है कि इसके बावजूद हिंदी

भाषा आज साधारण जनगण की ओर ही बढ़ चली है। आज साहित्य केवल उच्च शिक्षित अथवा अभिजात श्रेणी का ही साहित्य नहीं है, आज साहित्य की भाषा में उच्चवर्गीय रीति के रहते हुए भी बहुत से लेखकों के जरिये उस भाषा ने मध्य-वित्त श्रेणी की भाषारीति को ही अपनाया है और विषय-वस्तु की दृष्टि से भी साहित्य ने आज मध्यवित्त श्रेणी के जीवन-स्तर को भी पार कर समाज के निम्नतम स्तर के जीवन को भी रूपायित करने के प्रयास में आत्मनियोग किया है। साहित्यिक की भाषा के साथ उनकी विषयवस्तु का (वर्णित सामाजिक श्रेणी का) जो घनिष्ठ संबन्ध है उसीसे भाषारीति में विवर्तन होता है। अतः भाषारीति श्रेणी-सम्बन्ध-वर्जित केवल व्यक्तिगत व्यापार नहीं है इसे स्मरण रखना चाहिए।

इस प्रसंग में उदाहरण के लिये बंगला भाषा के विचार से आधुनिक लेखकों में ताराशंकर की 'हाँसुली बाँकेर उपकथा' नामक उपन्यास उल्लेखनीय है। बंगला के आधुनिक लेखकों में ताराशंकर ने बंगाल के उपेक्षित ग्राम्यसमाज को ही विशेष रूप से कथा-वस्तु के रूप मे ग्रहण किया है और इसी लिए उस जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए एक आंचलिक भाषा को भी थोड़ा बहुत प्रयोग करने को बाध्य हुए हैं। किन्तु विशुद्ध आंचलिक भाषा को ही एक स्वतंत्र भाषा के रूप में विकसित करना यदि आदर्श न हो, तो साहित्य में आंचलिक भाषा को प्राधान्य नहीं दिया जा सकता इसीलिए अन्त में प्रत्येक साहि-त्यिक के लिए ही समस्या यह है कि सर्व-स्वीकृत साधारण भाषा को ही—आंचलिक शब्दों को और विशेष रूप से आंचलिक वाक्यरीति को यथोचित मार्जित रूप में ग्रहण कर—एक ऐसी प्रकाश-क्षमता प्रदान करना है जिससे वह भाषा उस अंचल के

जीवन को यथायोग्य रूप में प्रकाशित कर सके। 'हाँसुली बाँकेर उपकथा' में ताराशंकर भाषा के सम्बन्ध में एक साहसिक प्रयोग-परीक्षा में प्रवृत्त हुए हैं और अत्यन्त निम्न-श्रेणी के लोगों के भाव-भावना को व्यक्त करने के लिए एक जोरदार भाषारीति, का निर्माण किया है। जनगण का जीवन आत्म-प्रकाश की गरज से जिस भाषा का निर्माण कर रहा है, उस भाषा को साहित्य की भाषा में किस प्रकार रूपान्तरित करना होगा, उसका एक श्रेष्ठ और सार्थक परीक्षा-प्रयोग (experiment) ताराशंकर की यह 'उपकथा' है। आशा की जा सकती है कि भविष्य में 'उपकथा' की भाषा में जो 'रूपकथा' (folk-tale) का स्वप्नमय आवेश है वह छुट जायगा और वास्तव कथित भाषा का साहि- त्यिक रूप अपने को प्रकटित करेगी।

भाषा की रीति में जिस प्रकार समाज की विशेष विशेष श्रेणी के भाव और भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार महाकाव्य, उपन्यास, छोटी कहानी, गीतिकाव्य, नाटक आदि साहित्य-रूपों के द्वारा भी साहित्यकार समाज के विशेष-विशेष श्रेणियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। साहित्य सृष्टि में जो भिन्न-भिन्न प्रकाश-पन्था अथवा रूप (forms) हैं ये किसी व्यक्ति विशेष की अकेले की सृष्टि नहीं हैं; सामाजिक प्रयोजन से बहुजनों के प्रयास से जिस प्रकार पद-चिह्न-हीन प्रान्तर अथवा अरण्यों में पगडंडियाँ स्पष्ट हो उठती हैं, उसी प्रकार सामाजिक प्रयोजन से ही बहुतेरे साहित्यिकों के प्रयासों से ये प्रकाश रूप (art structures) बन पाते हैं। सिडनी फिंकेलस्टाइन की भाषा में "एक पुरखे का स्थान जब दूसरे पुरखे के द्वारा ले लिया जाता है और समाज की सजीव आकृति (organic shape) में परिवर्तन हो

जाता है तब भी प्रकाशरूप वही रह जा सकता है परन्तु उसकी उद्दिष्ट श्रोतृमंडली की सामाजिक प्रकृति भिन्न हो जाती है और कलाकार के ऊपर उनकी जो माँग है उसमें परिवर्तन हो जाता है। कलाकार को इन श्रोताओं के साथ उनके परिवर्तित सम्बन्धों को अनुभव करना पड़ा है और उसके मुताबिक पुराने प्रकाशरूप के प्रयोग करते समय उन्हें अपनी कला की प्रकृति को बदलना पड़ा है अथवा ऐसे नये नये प्रकाश रूपों का आविष्कार अथवा विकास करना पड़ा है जो उन्हें अपने अभीष्ट श्रोतृवर्ग के पास ले जा सकते हों। इसी कारण एक युग से युगान्तर की ओर चलते हुए प्रकाशरूप भिन्न हो जाता है।"[1] नौटंकी, स्वांग, लीला आदि के द्वारा हमारे देश के लेखक जिस जन साधारण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम होते थे, नाटक और रंगमंच के द्वारा लेखक उनके साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। उपन्यास के द्वारा भी वंकिम-चन्द्र जिस पाठक श्रेणी के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहा, शरत्चन्द्र उसी उपन्यास के द्वारा ही और भी व्यापक पाठक श्रेणी की ओर अग्रसर हो आये। इससे सिर्फ उपन्यास की विषयवस्तु में ही परिवर्तन नहीं हुआ, वल्कि उपन्यास की भाषा और उसके ढाँचे अर्थात् गठनशैली में भी परिवर्तन होता गया है। अतः नये नये साहित्यिक प्रकाशरूपों के आविर्भाव में श्रेणी-संग्राम ही प्रकट होना चाहता है और इस संग्राम के फल-स्वरूप साहित्य में केवल प्रकाशरूप का ही परिवर्तन नहीं होता, वल्कि विषयवस्तु में भी परिवर्तन होता है।

आधुनिक काल में मुद्रणयंत्र के आविर्भाव और शिक्षा

---

1. Art and Society by Sidney Finkelstein p 66.

विस्तार के कारण, पहले के कीर्तन, रामलीला, कथावाचन आदि के जरिये प्रचारित काव्यसाहित्य के स्थान पर कहानी साहित्य का आविर्भाव और प्रसार हो चला है, इसमें सन्देह नहीं। मासिक और अन्यान्य सामयिक पत्रों के आविर्भाव से कहानी साहित्य क्रमशः एक विशाल पाठक श्रेणी की ओर अग्रसर हो चला है यह भी सही है। इसके अलावा ग्रामोफोन, रंगमंच, रेडिओ और सिनेमा-टॉकी से भी साहित्य के प्रकाश-रूप नाना प्रकार से रूपान्तरित हो चला है, यह भी सभी लोग देख सकते हैं। छापाखाने की मारफत इस साहित्यप्रचार के फलस्वरूप साहित्य के साथ श्रोतृमंडली का जो परिवर्तन हुआ है उसका उल्लेख पहले ही किया गया है। किन्तु शिक्षा विस्तार के कारण अर्थात् अधिकतर संख्या में जनगण को पठनक्षम कर सकने से यह आधुनिक हिन्दी साहित्य जनगण के साथ यथार्थ सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा और उसके फलस्वरूप साहित्य की विषय-वस्तु में भी एक अभावित रूपान्तर होगा, यह भी निस्संशयरूप से कहा जा सकता है।

साहित्य की भाषा और प्रकाश रूपों की यह जो समस्या है इसे एक शब्द में साहित्य की रूपगत समस्या कहा जा सकता है। समाज के बाहरी और भीतरी परिवर्तन के साथ साहित्य में रूपगत परिवर्तन होता है। साहित्य के विशेष विशेष रूप के सहारे साहित्यकार समाज की विशेष-विशेष श्रेणियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसीलिए साहित्यिक के लिए यह रूपगत समस्या उनकी सामाजिक समस्या के साथ ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। वर्तमान समय में साहित्य में जो प्रकाशरूप प्रचलित हैं उन्हें विशेष रूप से धनिक सम्प्रदाय के ऊपर ही निर्भर करना पड़ता है। छापाखाना, मासिक और

अन्य सामयिक पत्र, ग्रामोफोन, सिनेमा, रेडियो, रंगमंच— इनकी सहायता से ही आज के साहित्यकार श्रोताओं से मिल सकते हैं। साहित्य के लिए, और साधारण रूप से चित्र, संगीत आदि कलाओं के लिए भी आज यही सब से बड़ा संकट है।[1] क्योंकि "शासकवर्ग उन जीर्ण (outmoded) प्रतिष्ठानों की रक्षा करना चाहते हैं जिनसे समाज का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, और ऐसा करते हुए वह शिल्परूपों (artforms) को भी निर्दिष्ट और नियंत्रित करना चाहते हैं और इस प्रकार से कला की विषयवस्तु को संकुचित करना चाहते हैं। इस श्रेणी की सेवा करने के लिए प्रायः कलाकार 'नये रूपों' की आमदनी करेंगे जो वास्तव में पहले के जीवन और प्रयोजन से विच्छिन्न पुराना शिल्प रूप मात्र है। कितना भी छद्मरूप में क्यों न हो, ये नये रूप नहीं हैं। नवीन, सजीव शिल्परूप के लिए संग्राम, कला में श्रेणी-संग्राम को प्रस्फुट करने का साधन होता है। यह संग्राम रूप और विषयवस्तु दोनों के लिए है, इसका लक्ष्य कला को पुनः जनगण के अधिकार में प्रतिष्ठित करना और उन्हें सामाजिक जीवन का अंगीभूत करना है।"[2]

राष्ट्र जिस प्रकार शासक श्रेणी के प्रभुत्व को कायम रखने का हथियार है, उसी प्रकार मुद्रणयंत्र, सिनेमा, रेडियो आदि भी आज पृथिवी के सभी जगह शासक श्रेणी के हाथों में अपने-

---

१—"With the concert hall, the operahouse, the stage, the art gallery, many of the newspapers and publishing houses in the hands of the wealthy, this became a most serious problem"— Art and Society p 100

२—Art and Society p 103.

अपने उद्देश्य साधन के प्रधान यंत्रों के रूप में प्रयोग किये जा रहे हैं, यह भी किसी की आँखों में उँगली डाल कर दिखलाने की जरूरत नहीं है। इसीलिए पूँजीवाद के द्वारा नियंत्रित सभी देशों में आज इन साधनों के द्वारा जनगण को सम्मोहित करने और वरगलाने का काम बड़े जोरों से चल रहा है। साहित्यिक और कलाकारों में से अधिकांश को धनिकों के द्वारा संचालित समाचार और सामयिक पत्रों के द्वारा जीविकार्जन करना पड़ रहा है और धनिक श्रेणी के समर्थन में कला और साहित्य की सृष्टि करना पड़ रहा है। जो साहित्यिक और कलाकार वैसविक आदर्श की प्रेरणा से जनजीवन के विक्षोभ और समाजतांत्रिक आदर्श-आकांक्षाओं को चित्र, संगीत, नाटक, उपन्यास, निवन्ध और समालोचनाओं के द्वारा व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, आज उन्हें इन साधनों से वंचितकर पूँजीवादी श्रेणी श्रेणीसंग्राम की वैसविक प्रेरणा को नष्ट करने की कोशिश कर रही है। इतना ही नहीं, पूँजीवाद-विरोधी साहित्य और कला-सृष्टि के अपराध के कारण प्रायः हर देश में कलाकार और साहित्यिक अपनी-अपनी वृत्ति के द्वारा जीविका कमाने से केवल रोके ही नहीं जा रहे हैं, उनमें से अनेकों को नाना प्रकार के निर्यातन भी सहना पड़ रहा है। केवल कलाकार और साहित्यिक के जीवन में ही आज यह संकट उपस्थित हुआ है ऐसी बात नहीं, वलिक वुद्धजीवी मात्र के ही जीवन में आज यह संकट किसी न किसी रूप में उपस्थित है।

४१

इतिहास की अग्रगति के रास्ते में ही पूँजीवादी समाज का आविर्भाव हुआ था और व्हेनबुर्ग के शब्दों में यह भी अवश्य स्वीकार्य है कि "बुर्जोआ पूँजीवादी श्रेणी ने अपने समय में महान् आध्यात्मिक मूल्यों की सृष्टि की है और मानवसंस्कृति के इतिहास में उसका जो कुछ देना था उसे दिया है। अतीत में जो कुछ मूल्यवान था उन सब का हम आदर करते हैं और तृतीय राष्ट्र (Third State) के द्वारा जिन वैज्ञानिक, लेखक और कलाकारों की उत्पत्ति हुई है उन्हें भी मर्यादा प्रदान करते हैं। परन्तु पूँजीवाद जब सृष्टि का काम कर रहा था उसी समय बालजाक जीवित थे। आज पूँजीवाद विनाश कर रहा है; आज वह एक नये बालजाक को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। आज पाश्चात्य देशों में जो कुछ जीवित और मूल्यवान है उनकी सृष्टि उन्हीं नर-नारियों के द्वारा हो रही है जिन्होंने जनगण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है" पूँजीवाद अपने को रक्षा करने के अन्तिम और व्यर्थ प्रयास में क्रमशः हिंस्र और बर्बर हो रहा है और दुनियाँ की संस्कृति को नष्ट करने की कोशिश कर रहा है, यही वर्तमान समय का सबसे बड़ा संकट है। सभी देशों के बुद्धिजीवियों के जीवन में आज जो संकट उपस्थित हुआ है उसे यदि केवल स्थानीय दृष्टि से देखा जायगा तो इस संकट का विश्वव्यापी गुरुत्व को समझना संभव नहीं होगा। वर्तमान

समय में सारी दुनिया के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस संकट की भीषणता की उपलब्धि करना प्रत्येक बुद्धिजीवी का कर्तव्य है।

अगस्त १९४८ में पोलन्ड के रोकला (Wroclaw) नगर में जो 'शान्तिरक्षा के लिए विश्वकांग्रेस' बुलायी गयी थी उसको स्मरण करना यहाँ पर अवश्य ही अप्रासंगिक नहीं है।[1] दूसरे महायुद्ध के ध्वंसस्तूपों को साफ करने का भी समय नहीं मिला, इधर साम्राज्यवादी डाकुओं ने फिर तीसरी लड़ाई के लिए प्रचार और तैयारी करना शुरू कर दिया है. इस सत्य को आज (१९४८ दिसम्बर) किसी भो चेतना सम्पन्न व्यक्ति से छिपा रखना संभव नहीं है। इसीलिए 'शान्ति, स्वाधीनता, जनतांत्रिकता और संस्कृति की रक्षा के लिए' बुद्धिजीवियों की जो जिम्मेवारी और अवश्यग्रहणीय भूमिका है उस सम्बन्ध में आलोचना के लिए दुनिया के ४५ देशों से विज्ञान, कला और साहित्य के पाँचसौ श्रेष्ठ प्रतिनिधि रोकला नगर में एकत्रित हुए थे। 'दो महायुद्धों का प्रभाव व्यर्थ नहीं गया; पृथ्वी के उत्कृष्टतम मनीषियों ने समझा है कि अगर वे अपने (देश की) जनगण (peoples) के साथ अपना नाता नहीं जोड़ेंगे तो वे शक्तिहीन हैं।[2] इसीलिए फैशिज्म के पुनराविर्भाव के प्रयास से शंकित होकर इस कांग्रेस ने जो अपना घोषणापत्र प्रचार किया है प्रत्येक यथाथ संस्कृति प्रेमिक को इस पर विचार करना चाहिए।

---

1. World Congress of Intellectuals by K. Dmitriev in News and Views from Soviet Union, Nov. 29.948

A Report on the Congress by Ilya Ehrenburg in New Times No 38, Sept. 15, 1948.

2. Speech of Ilya Ehrenburg at the World Congress of Intellectuals: Soviet Weekly Oct. 21, 1948.

दुनिया के बुद्धिजीवियों के प्रति इस घोषणापत्र में इसीलिए कहा गया है कि "हम (अर्थात् संस्कृति-विज्ञान और कला के क्षेत्र में काम करनेवाले) आप लोगों को उस भयानक विपत्ति का याद दिलाना चाहते हैं, कुछ दिन पहले मानव जाति की संस्कृति को जिसका सामना करना पड़ा था। विवेक, युक्ति और प्रगति की धारणाओं को फैशिस्त वर्वरता ने—ऐतिहासिक और सांस्कृतिक मूल्यों के विनाश, बौद्धिक कर्मियों (brain workers) के निर्यातन व मृत्यु और सारे आध्यात्मिक मूल्यों की ऐकान्तिक उपेक्षा द्वारा—जो विपन्न किया था उसे हम प्रत्यक्ष कर चुके हैं।······अतुलनीय त्याग और दुःख का मूल्य चुका कर सोवियत यूनियन, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र के जातिपुंज और फैशिज्म द्वारा अधिकृत देशों में जनगण के प्रतिरोध ने इन जनतांत्रिक शक्तियों के परम प्रयास के द्वारा मानवसंस्कृति की रक्षा कर सकी। तथापि सब देशों के जनगण की इच्छा और अभीप्सा (aspirations) के विरुद्ध, अमेरिका और यूरोप के उन थोड़े से स्वार्थपर लोगों ने, जिन्होंने फैशिज्म से जातिगत श्रेष्ठता-सम्बन्धी और प्रगतिनाशक धारणाओं को पाया है, जिन्होंने शस्त्र के बल से सारी समस्याओं को हल करने की प्रवृत्ति को पाया है उन्होंने फिर विश्व के जातिपुंजों (nations) के अध्यात्मसम्पदा के विरुद्ध हरकतें करना शुरू किया है।"[1]

विश्वकांग्रेस के सभापति फादायेव (Fadayev) के शब्दों में, "दूसरे महायुद्ध के बाद सारी दुनिया में दो खेमे साफ हो उठे हैं. सोवियत यूनियन के नेतृत्व में जनतांत्रिक खेमा, फैशिस्त विरोधी साम्राज्यवाद विरोधी खेमा और युक्तराष्ट्र के शासक-

1. Manifesto of the World Congress of Intellectuals at Wroclaw, Soviet weekly, Sept 2, 1948.

चक्र के नेतृत्व में जनतंत्र विरोधी, प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी खेमा।' यह साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादी शक्ति अक्टोपस की तरह अपने लम्बे बाँहों को फैलाकर विश्व के प्रायः सर्वत्र संस्कृति के सारे उपकरणों को—साहित्य, विज्ञान और कला को—अपने विकृत उद्देश्य को पूरा करने के हथियार के रूप में प्रयोग करने का निश्चय कर लिया है। इसी लिए आज सभी पूँजीवादी देशों में साहित्य विज्ञान कलासेवियों की स्वाधीनता लुप्त-सी हो गई है। इसका कारण यह है कि संस्कृति मानवसमाज के नियंत्रण का प्रचंड हथियार है और स्तालिन के शब्दों में "इस शस्त्र का प्रभाव क्या होगा वह इस बात पर निर्भर करता है कि यह शस्त्र किसके हाथों में है और किसके ऊपर चोट करने के लिए इस शस्त्र का प्रयोग होगा।" संस्कृति की इस प्रचंड शक्ति के ऊपर फैशिस्त नियंत्रण के भयानक परिणाम को स्मरण कर ही विश्व कांग्रेस ने यह घोषणा की है कि,—

"युक्ति और विवेक के विरुद्ध, मनुष्य के ऊपर, अत्याचारी जिन्हें 'coloured' नाम से निर्देश करते हैं उनके सारी जाति के ऊपर अत्याचार चल रहा है, बढ़ता भी जा रहा है। जिन-लोगों ने फैशिस्त तरीकों को ग्रहण किया था, वे अपने देशों में जातिगत (racial) विषमता के आधार पर आचरण कर रहे हैं और विज्ञान और कला में जो प्रगतिशील काम करनेवाले हैं उन पर निर्यातन कर रहे हैं। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्यजाति का कल्याण हो सकता था, उन्हें विध्वंसक साधनों के गुप्त उत्पादन के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है, जिससे विज्ञान का महान् उद्देश्य विकृत और अपयश ग्रस्त हो रहा है।"

"इन लोगों के शासन में मानवीय शब्द और कला को जातिपुंजों (peoples) को शिक्षित और सम्मिलित करने के

उद्देश्य से इस्तेमाल नहीं किया जाता, बल्कि मनुष्य-शिकार करने की हीन प्रवृत्तियों को प्रज्वलित करने और युद्ध के संघटन करने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। शान्ति, प्रगति और मानवजाति के भविष्य के लिए प्रगतिशील सांस्कृतिक कृतियों के स्वाधीन विकास और विकीरण की आवश्यकता के बारे में दृढ़ विश्वास के कारण हम इस स्वाधीनता के किसी भी प्रकार के संकोचन के विरुद्ध प्रतिवाद कर रहे हैं और विश्व-सभ्यता के स्वार्थ में (विभिन्न) जाति और संस्कृतियों के बीच पारस्परिक समझ (undestanding) के ऊपर जोर दे रहे हैं।"

× × ×

विश्व की राष्ट्र जातियाँ (nations) लड़ाई नहीं चाहतीं और नव-फैशिज्म के प्रयासों के विरुद्ध शान्ति और संस्कृति की रक्षा के लिए काफी ताकत रखती हैं। ऐ दुनिया के मनीषीवृन्द, आपलोग अपनी जाति (nation) के प्रति, मानव जाति और इतिहास के प्रति एक महान् उत्तरदायित्व के सम्मुखीन हुए हैं। हम शान्ति के लिए, जातिपुंज की स्वाधीन सांस्कृतिक प्रगति के लिए उनकी राष्ट्रीय (National) स्वाधीनता के और घनिष्ठ सहयोगिता के लिए अपनी आवाज उठा रहे हैं।"

गत महायुद्ध से दुनिया के भिन्न भिन्न देशों के संस्कृति साधकों ने, कड़ुए होने पर भी इस महामूल्य अनुभव को प्राप्त किया है कि संस्कृति का विकृत प्रयोग कर ही फैशिस्त शासक समग्र जाति को विनाश की ओर ले जाते हैं। इसीलिए इस संस्कृति को किसी भी प्रकार से फैशिस्त शासकों के अधीन होने देना मानव जाति के लिए कल्याणकारी नहीं है। किन्तु संस्कृति-सेवकों ने गत महायुद्ध से यह भी अनुभव प्राप्त किया है कि संस्कृति को बर्बर फैशिस्त शक्ति के हाथों से रक्षा करना केवल

संस्कृति-सेवकों के विच्छिन्न प्रयास से संभव नहीं है। जनगण के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर, जनगण के खेमे में प्रवेश कर ही वे संस्कृति के विशुद्ध मानवीय स्वरूप की रक्षा कर सकेंगे। अपनी-अपनी साधना के क्षेत्र में कवि, साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक अलग रह कर किसी तरह भी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकेंगे, इस वृहत् शिक्षा को अगर संस्कृति-सेवक आज भी ग्रहण नहीं करेंगे तो उससे बढ़ कर मूर्खता (अन्धता) और कुछ भी नहीं हो सकती। समाज के अन्दर रह कर भी समाज से विच्छिन्न स्वतंत्रता को लेकर जीवन बिताना, किसी जमाने में संभव होने पर भी, आज बिलकुल असंभव है, इसे अस्वीकार करना कराई उचित नहीं है। विश्व इतिहास के साम्प्रतिक पृष्ठभूमि में विश्व-कांग्रेस ने दुनिया के संस्कृतिसेवकों के उद्देश्य मे साधारण रूप से जो चेतावनी दी है उसके गुरुत्व की उपलब्धि करना प्रत्येक देश के प्रगतिकामी व्यक्तियों का कर्तव्य है। प्रत्येक देश की विशेप विशेष परिस्थिति में इस सांस्कृतिक संकट को उसके विशेप वास्तव रूप में अगर नहीं समझा जायगा तो इस संकट के विरुद्ध लड़ाई करना बिलकुल असंभव होगा। इसी कारण प्रत्येक साहित्यिक के लिए जनजीवन के साथ वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करना एक अनिवार्य प्रयोजन है। केवल साहित्यिक ही क्यों, किसी भी वैज्ञानिक अथवा अन्य सांस्कृतिक कर्मी के लिए भी आज समाज-जीवन की गतिप्रकृति के प्रति आँख बन्द कर चलना मानव-समाज की यथार्थ प्रगति का परिपन्थी ही नहीं है, बल्कि उनके स्वाधीन अस्तित्व का भी परिपन्थी है, इसे किसी तरह भूलना नहीं चाहिए।

४२

अति वर्तमान जीवन के प्रति प्रागतिक साहित्यिक का जो गहरा दायित्वबोध है और समाज के अन्दर श्रेणीगत विरोध के कारण साहित्य की भी जो श्रेणीमूलक प्रकृति होती है उसकी स्वीकृति के विरुद्ध सनातन-पन्थी साहित्यिकों ने नाना प्रकार की आपत्तियों (objections) को उठाया है। अब तक उनकी नाना प्रकार की आपत्तियों की आलोचना विभिन्न आलोचना के प्रसंग में की गई है। संभव है कि उस सम्बन्ध में फिर आलोचना करते हुए कुछ बातें फिर दुहराई जाँय लेकिन उससे कोई हानि नहीं है।

वर्तमान समय में सामाजिक जीवन नाना प्रकार से विच्छिन्न और विरुद्ध आदर्शों की लड़ाई का मैदान जैसा बन गया है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतीत काल में भी समाज-जीवन के अन्दर आदर्शगत और श्रेणीविरोधात्मक गतिप्रवृत्तियाँ नहीं थी यह बात सच न होने पर भी, मोटे रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य एक विशेष वर्ग के साहित्य के रूप में ही आत्मप्रकाश किया था। किन्तु वर्तमान समय में साहित्य केवल एक ही वर्ग का साहित्य नहीं है। इसीलिए साहित्य के माध्यम से भी आज श्रेणीगत आदर्शों का संग्राम का दिनोंदिन तीव्र होना अनिवार्य है।

कभी रससृष्टि के नाम से, कभी विशुद्ध मानवता के नाम से, कभी कलासृष्टि के नाम से कुछ साहित्यिक अपने को श्रेणी-

निरपेक्ष निरासक्त द्रष्टा के आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। जलचर जीव के लिए जिस प्रकार जल-निरपेक्ष होना बिलकुल असंभव है, वैसा ही श्रेणी-विभक्त समाज के अन्दर पैदा हुआ मनुष्य के लिए भी समाज-निरपेक्ष रहना असंभव है। इसी लिए आज किसी भी साहित्यिक के लिए जीवन के श्रेणी सम्बन्धों से परे रहकर बिलकुल श्रेणी-निरपेक्ष होकर देखना संभव नहीं है। असली बात तो यह है कि जब समाज में किसी विशेष श्रेणी का प्रभुत्व और प्रभाव पक्के तरीके से कायम हो जाता है तो वह समाज बाह्यतः स्थितिशील रूप धारण कर लेता है और तब उस श्रेणी के आदर्श के प्रचारक साहित्यिकों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि हम श्रेणीनिरपेक्ष, शाश्वत सनातन साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। किन्तु ऐतिहासिक वास्तवता की दृष्टि से किसी भी युग के साहित्य की आलोचना करने पर हम देखेंगे कि प्रत्येक युग का साहित्य उस युग के किसी विशेष श्रेणी के भाव भावना आदर्शों को ही रूपायित करने में बाध्य हुआ है किन्तु जभी समाज में श्रेणीगत प्रभुत्व के परिवर्तन का समय उपस्थित हुआ है, साहित्य संस्कृति में भी तभी एक संकट अनिवार्य हो उठा है और तब एक दल साहित्यिक को रससृष्टि का नाम लेकर, विशुद्ध मानवता की दुहाई देकर अथवा विषय-निरपेक्ष केवल विशुद्ध कला सृष्टि (Art for Art's sake) के नाम पर, प्रचलित परम्परा के समर्थन करते हुए देखा जाता है। आधुनिक काल में भी सांस्कृतिक संकट के फलस्वरूप साहित्य और कला में विषयवस्तुनिरपेक्ष रूप-वाद (Formalism) की ओर झुकाव दिखाई दे रहा है।

करीब दो साल पहले (१९४६ ई० के अन्तिम भाग में) फ्रांस में गारोदी (Roger Garaudy) और आरागँ (Louis

Aragon) के बीच जो मतभेद उपस्थित हुआ था, संभवतः यहाँ पर उसका उल्लेख अप्रासंगिक न होगा ।[1] क्योंकि हमारे देश में भी इस प्रकार का मतभेद शुरू हो गया है। 'वरदी-विहीन कलाकार' शीर्षक निबन्ध में (Ars de France No 9) गारोदी कहना चाहते हैं कि वैज्ञानिक का काम जिस प्रकार श्रेणी-स्वार्थ-निरपेक्ष सत्य का अनुसन्धान करना है, उसी प्रकार कलाकार का भी लक्ष्य रूपायन-कुशलता है । अगर कलाकार विषय-वस्तु की दृष्टि से कुछ महान् सृष्टि न भी कर सकें तो वह कलाकार का दोष नहीं है; वह दोष उस युग के जीवन में—हृदय, मस्तिष्क, आँख और हाथ में—जो समन्वय का अभाव है, उसका है। "यदि इस युग में एक प्लेट के ऊपर तीन भुने हुए अंडों के चित्र खींचने के अलावा आप को और कोई विषय न मिले तो मैं आप पर दोषारोप नहीं करूँगा। मै युग को दोषी ठहराता हूँ। कारुकर्मी (Craftsman) के रूप में आप की कुशलता की कोई भी हानि इसमें नहीं है। दूसरी ओर मैं उस कलाकार की निन्दा करूँगा जो अनुपयुक्त उपायों के द्वारा एक अच्छे विषय (a good cause) को रूपायित करने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि वह अपनी व्यक्तिगत कमजोरियों से जो वास्तव में महान् है उसे छोटा करते हैं।"

---

१ Communism and Art—A controversy by F. D. Klingender (Communist Review Jan. 1947) के आधार पर लिखा गया है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि विषय-वस्तु-निरपेक्ष रूप-विचार की इस गलत धारणा को गारोदी ने छोड़ दी है, तथापि बंगाल के विष्णु दे आदि लेखक अब भी उसी गलत धारणा को लेकर अपने को गारोदी के अनुयायी बतलाते हैं।

पियेर हर्वे (Pierre Herve) भी "कम्युनिस्ट कलातत्व नाम की कोई चीज नहीं है" शीर्षक आलोचना में (Action Nov. 29, 47) परोक्ष रूप से गारोदी के उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करते हैं। उनकी राय में साहित्य का कलागत विचार और राजनीतिक विचार दो स्वतंत्र विषय हैं। कम्युनिस्टों को किसी भी कलाकृति को राजनीतिक दृष्टि से अच्छा अथवा बुरा कहने का अधिकार है और द्वान्द्विक वस्तुवाद के जरिये वह समालोचना की जा सकती है। किन्तु कला की दृष्टि से जब कोई विचार करना होगा, तो विशुद्ध कला की दृष्टि से ही उसका विचार करना होगा क्योंकि कम्युनिष्ट कला नाम की कोई चीज नहीं है।

कलाकार को परोक्ष रूप में विषय वस्तु के सम्पर्क में जिम्मेदारी से बरी करने की यह जो चेष्टा है, यह गलत है; इस बात की ओर लूई आरागँ ने अपने निबन्ध 'क्या कला एक स्वाधीन इलाका है?" (Les Lettres Francaises Nov 29, 1947) में ध्यान को आकर्षित किया। आरागँ की राय में कलातत्व के क्षेत्र में विषय सम्बन्धी निरपेक्षता का अर्थ इस सत्य की उपेक्षा करना है कि श्रेणीसंग्राम में कला की एक गुरुत्वपूर्ण भूमिका है। सत्यानुसन्धान के रास्ते में कला मनुष्य की दृष्टि को या तो और भी स्वच्छ करती है, नहीं तो दृष्टि को आछन्न कर मनुष्य को गलत रास्ते पर ले जाती है। अतः कम्युनिस्ट की दृष्टि में कलातत्व का अर्थ वास्तववाद है। परन्तु यह वास्तववाद वह चीज नहीं है जिसे अंग्रेजी में स्वाभाविकवाद (Naturalism) कहते हैं; यह बाहरी तथ्यों की फोटोग्राफी नहीं है। आरागँ की राय में कला का रूप प्रतीकात्मक (Symbolic) अथवा बिलकुल स्वभाव-विरुद्ध भी हो सकता

है, परन्तु कला की वास्तवता का निर्भर रूप के ऊपर नहीं है, उसका निर्भर कलाकार के उद्देश्य (Intention) के ऊपर है। "संक्षेप में, वास्तवता (Realism) वह गुण है जो किसी किसी कलाकार को युग की केवल-निष्क्रिय अभिव्यक्ति के ऊपर ले जाती है।[1] स्वाभाविकवाद का उद्दिष्ट सत्य और वास्तववाद का उद्दिष्ट सत्य—इन दोनों में भेद है। फिंकेलस्टाइनके शब्दों में कहा जा सकता है कि "सत्य के बहुत से प्रकार भेद हैं। बाह्य प्रतीतियों (appearances) के प्रति विश्वस्तता सत्य तो है, पर यह सत्य अत्यन्त अपरिणत (rudimentary) ढंग का है। दूसरे प्रकार का सत्य भी है जो हमारे ज्ञान के दिगन्त को प्रसारित करता है; दृष्टान्त के रूप में उन सत्यों को लिया जा सकता है जो इस बात को व्यक्त करते हैं कि वास्तव में जनगण (masses of people) किस प्रकार जीवन बिताते हैं और बहुत से लोग जगत् सम्बन्धी जिन गलत धारणाओं से अपने को घेर कर रखते हैं, उन्हें नष्ट करते हैं। ऐसे सत्य हैं जो उन योगसूत्रों को प्रगट करते हैं जिनसे जनगण एकत्र बँधे हुए हैं, उन दरारों को व्यक्त करते हैं जो समाजशरीर के अन्दर मौजूद हैं और संघर्ष और निराकरण की उन प्रक्रियाओं को प्रकटित करते हैं जिनके द्वारा इतिहास गतिशील होता है।[2]

गारोदी-आरागँ-वितर्क के बाद लौराँ कासानोवा ने फ्रांसिसी कम्युनिस्ट पार्टी के ग्यारहवाँ कांग्रेस में "कम्युनिज्म—भाव व कला" शीर्षक जो विवरण पेश किया उसमें उन्होंने बुद्धि-जीवियों के स्थान और उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में जो आलो-

---

१ Communism and Art by F. D. Klingender.

२ Art and Society p. 105.

चना की वह उल्लेखनीय है।[1] जब साधारण जनगण सामने की ओर बढ़ने लगते हैं, उस समय संस्कृति के क्षेत्र में भी मूल्यान्तर का समय आसन्न हो जाता है और जनगण के संग्राम के जरिये ही नवीन सांस्कृतिक मूल्यों का उद्भव होने लगता है। जनगण की अग्रगति के द्वारा ही जो समाज में यथार्थ जनतांत्रिकता का प्रतिष्ठित होना संभव है इस बात की आलोचना पहले ही की गई है। इसलिए जनतांत्रिक समाज की नवीन संस्कृति भी जनसंग्राम के अन्दर ही पैदा होती है। सामाजिक जीवन की वास्तव परिस्थिति से ही सांस्कृतिक भाव और भावना का आविर्भाव होता है, लेकिन इन नवीन भाव और भावनाओं को स्पष्टरूप से जनगण की चेतना के सामने रखना बुद्धिजीवी सम्प्रदाय के लिए, कलाकार साहित्यिक मनीषियों के लिए ही संभव है। जीवन-सत्य की खोज में जिस प्रकार बुद्धिजीवियों के लिए लिए मेहनतकश वर्गों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार श्रमिक श्रेणी के भावी समाज निर्माण की भावना-कल्पनाओं को, भावी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को स्पष्ट और शक्तिशाली करने के लिए बुद्धिजीवियों की सहयोगिता भी परम आवश्यक है।

वर्तमानयुग में जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों का पारस्परिक सम्पर्क इतना गहरा है कि आज किसी भी व्यक्ति के लिए अपने अपने क्षेत्र में बिलकुल विच्छिन्न होकर—केवल कलाकार, केवल दार्शनिक, केवल वैज्ञानिक होकर रहना असंभव है। प्रत्येक व्यक्ति को आज सर्वांगीण रूप से समाज के साथ युक्त होकर समाज निर्माण के काम में आत्मनियोग करना होगा। अवश्य

---

१ Communism—Thought and Art by Laurent Casanova in the Communist Review, Oct, 1947.

एक साधारण मजदूर के लिए आज यह समझना कठिन नहीं है कि उसके जीवन की सुख-स्वच्छन्दता वर्तमान समाज व्यवस्था और राष्ट्रीय व्यवस्था के आमूल परिवर्तन से ही संभव हो सकती है क्योंकि वह आज अपने प्रतिदिन के जीविका अर्जन के रास्ते से इस कड़ुए अनुभव को प्राप्त हो रहा है कि उसकी अर्थनीतिक परिस्थिति के साथ राष्ट्र व्यवस्था का एक अविच्छेद्य सम्बन्ध विद्यमान है। किन्तु बुद्धिजीवी मध्यमवर्गीय सम्प्रदाय में यह वास्तव-दृष्टि आज भी उतना स्वच्छ नहीं है, इसीलिए आज बुद्धिजीवी सम्प्रदाय का एक बड़ा हिस्सा प्रगतिविरोधी राष्ट्रशक्ति के द्वारा राष्ट्रनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया की सेवा में आत्मनियोग करने के लिए बाध्य हुआ है।

आज किसान-मजदूर आन्दोलन की तीव्रता के साथ ही साथ देश के बुद्धिजीवी सम्प्रदाय को प्रतिक्रिया के उल्टे रास्ते पर ले जाने की अपचेष्टा हर पूँजीवादी देश में प्रबल हो उठी है। अमरीका का अनुसरण करते हुए इस देश में भी सांस्कृतिक साधनों के ऊपर हमला शुरू हो गया है। परोक्षरूप से बुद्धि-जीवियों के ऊपर दबाव डालकर पूँजीवादी नियंत्रण जो काम कर रहा था आज वह आर्थिक दबाव पर्याप्त नहीं समझा जा रहा है। इसीलिए पूँजीवादी आर्थिक प्रभुत्व के दबाव के अलावा दुःशासन के निर्यातन से साहित्य-कलाकार निपीड़ित होने लगे हैं। मुद्रणयंत्र की स्वाधीनता, सामयिक पत्रों की स्वतंत्रता, सिनेमा-रंगमंच की स्वतंत्रता—संक्षेप में भाव भाव-नाओं की अभिव्यक्ति के जनतांत्रिक अधिकार के ऊपर फैशिज्म का लौह पदक्षेप शुरू हो गया है। बुद्धिजीवियों के विश्व कांग्रेस ने सारी दुनिया के बुद्धिजीवियों की दृष्टि को इस आसन्न खतरे की ओर आकर्षित किया है और उन्हें अपने उत्तरदायित्व का

पालन करने के लिए आह्वान किया है। इस सांस्कृतिक संकट में बुद्धिजीवि सम्प्रदाय को—अतः साहित्यिक को भी—स्पष्टरूप से यह निर्णय कर लेना होगा कि वह आज किस शिविर में है—पूँजीवादी खेमे में अथवा जनतंत्रवादी शिविर में। क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र की तरह कला और साहित्य के क्षेत्र में भी तीसरा खेमा नहीं है इस बात को निस्संशयरूप में समझ लेना एकान्त प्रयोजन है।

४३

वर्त्तमान योरोप की राजनीतिक और अर्थनीतिक दशा को देखते हुए यह अनुभव करना कठिन नहीं है कि द्वितीय विश्वयुद्ध योरोप की पूँजीवादी सभ्यता का अन्तिम संग्राम की सूचना है। इसीलिए आज योरोप के साहित्य में पूँजीवादी सभ्यता का आसन्न मृत्यु-संगीत प्रबल हो उठा है। पूँजीवादी सभ्यता के ह्रास के इस युग में इसी लिए व्यक्तित्ववाद ने अपने आशा-विश्वासों को, मानवता के स्वप्न को, आदर्श वाद की उद्दीपना को खो दिया है। आज योरोप के क्षयिष्णु धनतांत्रिक समाजजीवन में इसी लिए मनुष्य संशयवादी, नैराश्यवादी, पलायनवादी अथवा अध्यात्म-रहस्यवादी हो उठा है। वास्तव जीवन के क्षेत्र में उसकी सारी आशा आकांक्षाएँ बूझ गई हैं और इसी से उसने भविष्य के ऊपर विश्वास को खो दिया है, उसकी चेतना निदारुण निराशा से अन्धकारमय हो गई है। कभी-कभी वह इसलिए लोकातीत रहस्यवाद के अन्दर आश्रय लेकर अपने को बचाना चाहता है, मृत्यु से भाग कर आत्मरक्षा का झूठा आश्वास की रचना करता है। गारोदी ने अपने देश के कई नामी साहित्यिकों की रचनाओं का विश्लेषण कर कहा है कि "इन सब लोगों का जो साधारण लक्षण है वह है वास्तविकता के सामने आतंक ग्रस्तता (Panic) और साथ ही उसके कुछ भी न बदलने की एक गहरी इच्छा।"[1]

---

१ Literature of the Graveyard p. 63

किन्तु यह क्षयिष्णुता ही सब कुछ नहीं है। क्योंकि इनके विरुद्ध नव-जन्म के उपादान स्वरूप वे लेखक हैं जो वास्तवता में जो कुछ सबसे हीन (sordid) है उसके साथ समझौता करने से इनकार करते हैं। यह दृष्टिकोण संकीर्ण दलीयता का अथवा सीमितमन (closed mind) का दृष्टिकोण नहीं है। इन नवीन शक्तियों के सम्मुख सारा विश्व उन्मुक्त है। परन्तु यहाँ पर लेखक क्षयिष्णुता (decadedce) के साथ समझौता नहीं करते हैं, वह इसे इस प्रकार चित्रित करते हैं जिससे अगर हमारे अन्दर आत्मसन्तुष्टि न होकर विद्रोह जाग्रत हो जाय तो भी उन्हें उससे मुँह मोड़ना नहीं पड़ता है. और इस विद्रोह का तभी कुछ तात्पर्य और मूल्य हो सकता है अगर वह ठोस (positive) और गठनात्मक कर्म का पूर्वाभास हो।"[1]

बंगला साहित्य में भी बुर्जोआ समाज के व्यक्तित्ववाद का यह रुपान्तर आज काफी स्पष्ट हो उठा है। बंगाली मध्यवित्त समाज के बनाये हुए साहित्य में रवीन्द्रयुग में जो व्यक्तित्ववाद सार्थकता के आशा-आनन्द से उज्वल हो उठा था, धनतांत्रिक समाज के विश्वव्यापी विपर्यय में वह व्यक्तित्ववाद आज बंगला साहित्य में भी निराशा से म्रियमाण है। नाना लेखकों की रचनाओं में—काव्य,-कहानी-उपन्यासों में—इसीलिए पराजय का सुर, हताशा का सुर, 'बुर्जोया समाज का मृत्युकालीन क्रन्दन' ध्वनित हो रहा है।[2] बंगाल की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति ने आज वहाँ के मध्यवित्त समाज को करीब करीब खत्म कर चुका है; थोड़े से मध्यवित्त परिवार अगर छोटे-छोटे धनी परिवार बन

१ Literature of the Graveyard p. 63.

२ बंगाला साहित्य की कई धारणाएँ—वीरेनपाल लिखित निबन्ध मार्क्सवादी (१)

भी गये हों तो भी बाकी सारा मध्यवित्त समाज की भीत एक दम चूर्ण विचूर्ण होती जा रही है और उसके बुर्जोआ जीवनादर्श की आकांक्षा कठोर वास्तव के धक्के से धूल में मिल गया है अथवा जा रहा है। इसीलिए उसके साहित्य में भी आज हताशा और पराजय है; संगीत में निराश प्रेम के निर्वीर्य क्रन्दन के अलावा उसके कण्ठ में किसी प्रकार प्रतीकार, प्रतिशोध अथवा संग्राम का संकल्प नहीं है।

लेकिन इसके बावजूद यही बंगाल के समग्र जीवन का परिचय नहीं है। लौरॉं कासानोवा के शब्दों में, बंगाल के 'जनगण सामने को रवाना हुए हैं' इसीलिए बगाल के इस गण-संग्राम के अन्दर जो नवीन सांस्कृतिक मूल्यों का उद्भव हो रहा है यह भी आज के बंगाल के वृहत्तर सामाजिक जीवन का ही एक अत्यन्त वास्तव सत्य है, यद्यपि आज भी यह साहित्य में इतना प्रकट नहीं है। किसी भी श्रेणी-विभक्त समाज की संस्कृति में सामूहिक ऐक्य का होना संभव नहीं है। यद्यपि प्रधान और प्रकट रूप में शासक श्रेणी की संस्कृति ही समाज की संस्कृति के नाम से घोषित होती है, तथापि उस प्रभु-संस्कृति के अन्दर भी खोजने से अन्तर्विरोध का पता चलता है और इसके अलावा अवज्ञात, अवहेलित, जनसमाज की लोकसंस्कृति की एक धारा भी अत्यन्त क्षीणरूप में समाज के अन्दर से बहती रहती है। जभी समाज के इस अवज्ञात, अवहेलित, शिक्षावंचित, निर्यातित जनगण में जागृति दिखाई देती है और वैप्लविक प्रेरणा से उद्बुद्ध होकर जनगण मानव के जन्मगत सहज अधिकार को पाने के लिए आगे की ओर बढ़ते हैं तभी समाज में चारों ओर से एक भूमिका-बदलने का विकट मुहूर्त आसन्न हो उठता है, उस समय संस्कृति का भी रूपान्तर होता है।

बंगला साहित्य में भी इसीलिए केवल बुर्जोआ समाज का मृत्युकालीन क्रन्दन ही ध्वनित नहीं हो रहा है; इस क्रन्दन के पीछे से भावी समाज के प्रतिनिधि जनगण की अस्थिर अग्राभिगामी पदध्वनि भी सुनाई पड़ रही है। मध्यवित्त समाज का जो हिस्सा आज परिस्थिति की निर्मम ताड़ना से सर्वहारा के स्तर में उतर आया है, उसमें से कवि और साहित्यिक आ रहे हैं, उनके कंठ में आज केवल हताशा ही नहीं है, वैप्लविक प्रयास का इशारा भी है। मार्क्सवादी साहित्यिकों की जिम्मेवारी भी यहीं पर है।

मार्क्सवादी अपने को असहाय की तरह इतिहास के स्रोत में बहा नहीं देता, वह इतिहास को बनाता है। वर्तमान के क्षेत्र में ऐतिहासिक शक्तियों की गति प्रकृति के वास्तव अध्ययन के द्वारा वह इतिहास को—साथ ही विशाल मानप समाज के सर्वहारा वर्ग को बन्धनमुक्ति के पथ पर चला कर, अन्त में श्रेणीहीन मानवसमाज के सामूहिक कल्याण की ओर ले जाता है। अवश्य इसमें सन्देह नहीं कि मजदूर किसान ही मुख्य रूप में इस भावी समाज निर्माण के पथ पर अग्रगामी होंगे। और जनगण की इस सांग्रामिक चेतना की वृद्धि के साथ ही साथ साहित्य संस्कृति में भी विप्लव और आशा की वाणी प्रबलतर हो उठेगी यह भी सत्य है; किन्तु साथ ही मार्क्सवादी साहित्यिक को इस बात को भी याद रखना होगा कि मार्क्सीय दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति अध्ययनकक्ष में ही सीमित, निष्क्रिय, आलोचनात्मक दर्शन (armchair philosophy) नहीं है; यह दर्शन जीवन के वास्तव कर्म और अनुभव से उद्भूत है और फिर वास्तव कर्म में ही इस की परिणति भी है। यह दर्शन कर्मयोगी का दर्शन है। इसलिए मार्क्सवादी साहित्यिक एक ओर से समाज की प्रगतिशील

शक्तियों के द्वारा प्रभावित होंगे, दूसरी ओर से वह समाज-मानस की प्रगतिशील भावनाओं को साहित्य-कला में रूपायित कर उनके द्वारा समाज-मानस को भी रूपान्तरित कर नव समाज निर्माण की वैसविक प्रेरणा से मनुष्य को अनुप्राणित और उद्दीप्त करेंगे। श्रीवीरेन पाल के शब्दों में "वह वास्तव के 'निरपेक्ष' संवाददाता नहीं हैं, वह नवीन वास्तव के निर्माता हैं। अतीत की मृत्यु, वर्तमान का प्रलय और अनागत भविष्य की सूचना—ये तीनों उन के साहित्य में प्रकट होंगे। जिससे संस्कृति निर्यातित जनगण की प्रेरणा की वस्तु हो सके, संस्कृति में जिससे उन्ही की यथार्थ आशा आकांक्षाओ को स्थान मिल सके, जिससे उन्ही लोगों के जीवन के यथार्थ बहुमुखी द्वन्द्व को लेकर संस्कृति का निर्माण हो सके, इस प्रकार की प्रचेष्टा ही मार्क्सवादी साहित्यिक का लक्ष्य है।"[1] बंगाल के जनजीवन में आज जो नयी सांस्कृतिक चेतना का आविर्भाव हो रहा हैं उस सम्बन्ध में श्री मानिक बन्द्योपाध्याय की बातें उल्लेखनीय हैं। वह कहते हैं, "जीवन और चेतना में ओत प्रोत होकर मिले रहने के कारण ही संग्राम सत्य है। किसान केवल तेभागा आन्दोलन ही नहीं करता, आज वह स्वयम् सोचता और कहता है कि पहले की तरह औरत को मारना पीटना अब नहीं चलेगा, मन्दिर मसजिद पुरोहित मुल्लाओं के सामने वह आज भी सिर झुकाता हैं, पर वैसा अभिभूत नहीं होता। कवियाल (कवि गायक) के मुँह से रामायण की लड़ाई और कुरुक्षेत्र के गीतों की जगह आज के मनुष्यों के मुक्ति संग्राम के गीतों को सुनकर उसका अधिक रोमांच होता है। उसके प्रेम,

---

१ बंगला साहित्य की कई धाराएँ—मार्क्सवादी (१) पृ० ६६।

वात्सल्य, घृणा, लज्जा, भय, क्रोध आज मिट्टी की तरह नरम सहिष्णुता से बने नहीं हैं। उसमें हँसिया के काठिन्य और धार आ गये हैं।[1] अर्थात् आलंकारिकों ने मानव प्रकृति के जिन स्थायी भावों को रससृष्टि का उपादान माना है, वे स्थायी भाव विवर्तित होकर अब नया रूप धारण कर रहे हैं। प्राचीनपन्थी रसवादी मानवमानस के रागविरागों के इस क्रमविकास को अस्वीकार करते हैं, इसी लिए वे जनजीवन की उपेक्षा करते हैं और परम्परागत साहित्यरचना के द्वारा प्राचीन श्रेणी विभाग और श्रेणी प्राधान्य को स्वीकार कर प्रतिक्रियाशीलता के सहायक हो जाते हैं। इसीलिए साहित्य को श्रेणीसंग्राम के हथियार के रूप में इस्तेमाल कर जीवन के नवीन और जनतांत्रिक (अर्थात् यथार्थ मानविक विकास को द्रुतायित करना मार्क्सवादी साहित्यिक की जिम्मेवारी है। साहित्य के रूप के ऊपर विषय-वस्तु के इस मौलिक प्राधान्य को स्वीकार किये बिना गति नहीं है।

वर्तमान युग का श्रेणी संग्राम श्रेणीविभक्त समाज का अन्तिम अध्याय है। सर्वहारा श्रेणी का यह युगान्तकारी संग्राम क्यों अभी तक साहित्य कला में उतना रूपायित नहीं होने पा रहा है, उस ओर इशारा करते हुए गारोदी ने जो कहा है उसी का उद्धरण देकर वर्तमान आलोचना को समाप्त करते हैं।

"एक नवीन मनुष्य जन्म ले रहा है। जो कम से कम उसके चेहरे की परिचायक मूलरेखाओं (outlines) को भी दिखलाने में असमर्थ हो रहे हैं, वह एक निकृष्ट कलाकार हैं।

हमारे संक्रमण-युग (Age of transition) के बारे में दुर्भाग्य की बात यह है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति ने (जो एक

१. बंगला साहित्य की कई धाराएँ—मार्क्सवादी (१) पृ० ८८

श्रेणीगत पद्धति है) संस्कृति को श्रेणीगत विशेष अधिकार बना लिया है। जो मजदूर हमारे देश के पुनर्जागरण की पुरोगामी वाहिनी है, वे जिन वीरतापूर्ण अनुभवों को प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें व्यक्त करने लायक साहित्यिक साधन उनके पास नहीं है। दूसरी ओर साधारणतः बुर्जोआ श्रेणी के ढाँचे में बने लेखक व्यवहारिक (practical) सामाजिक कर्म से विरत रहने के कारण, श्रम के जगत् से विच्छिन्न हो गये हैं। मेहनत की लड़ाई में शरीक होने से सशस्त्र लड़ाई में मजदूरों का साथ देना कलाकार के लिए आसान था; और इसीलिए मेहनत सम्बन्धी वीरता से सामरिक वीरता का साहित्य हमारे लिए सहज-लभ्य हुआ है।

मजदूर किसान के अनुभव कदाचित् कलाकृतियों में मिलते हैं, उनके महत्व को भाषा में रूपायित नहीं किया गया है। एक ही व्यक्ति इस अनुभव को प्राप्त कर भाषा में इसे रूपायित नहीं करता। यही कारण है कि हम इस बाह्यतः विरोधी व्यापार (paradox) को देख रहे हैं। एक ओर वह दुःख (suffering) और प्रयास का ऐश्वर्य है जिसका रूपायन सृजनी-शिल्पों (creative arts) के द्वारा नहीं हो रहा है; दूसरी ओर वे कलाकार हैं जिनके पास बोलने लायक विषय से अभिव्यक्ति के साधन अधिक है।

मनुष्य के अपरिहार्य रूपान्तर के लिए प्रतिवारत रहकर भी हम कलाकारों को कम से कम इन मानवीय ऐश्वर्यों का अध्ययन करने के लिए अनुरोध कर सकते हैं, जिससे वह दीर्घ काल से दूर बैठे हैं। और अच्छी पुस्तक क्या है उस के निर्णय करने के मूल सूत्रों को कम से कम पाठक को दे सकते हैं।

अच्छी पुस्तक वह है जो पाठक को बिना बदले नहीं छोड़ती

है; दुनिया के अन्दर और हमारे अपने अन्दर कुछ परिवर्तन लाने के उद्देश्य से अच्छी पुस्तक एक चैलेंज (Challenge) है। अच्छी पुस्तक वह है जो हमारे अलावा और जो लिख रहे हैं उनकी कला के अलावा और भी कुछ प्रतिबिम्बित करती है। अच्छी पुस्तक एक शक्ति है, एक औजार अथवा एक शस्त्र है जो आज के स्वप्न को आगामी कल के यथार्थ में परिणत करती है। अच्छी पुस्तक वह है जो प्रकाशन अथवा रूपायन की विशिष्ट घनबद्धता (compactness) और तीव्रता के द्वारा एक वास्तव जगत् में एक वास्तव मनुष्य की वास्तव समस्या को उपस्थापित करता है। अच्छी पुस्तक वह है जो अपने सौंदर्य को उस वास्तव जगत् के सौंदर्य से अलग नहीं करती जिसे वह व्यक्त करती है क्योंकि नवीन मनुष्य न होने से नवीन कला नहीं हो सकती।

अच्छी पुस्तक वह है जो हमें यह सिखलाती है कि हम लोगों को किस प्रकार जीना होगा और किस प्रकार मरना होगा।"[1]

---

१ Literature of the Graveyard p. 64.